ऋक्-प्रातिशाख्य एवं वाजसनेयि-प्रातिशाख्यों का तुलनात्मक अध्ययन पाणिनीय-शिक्षा के सन्दर्भ में

बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय, झाँसी

से कला संकाय के अन्तर्गत संस्कृत विषय में

पी.-एच.-डी., उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध निर्देशक

डॉ. आर. पी. गुप्ता

रीडर संस्कृत विभाग

पं० जवाहरलाल नेहरू महाविद्यालय,

बाँदा

शोधच्छात्रा

श्रीमती नेत्रा श्रीवास्तव

एम०ए० संस्कृत

—शोध केन्द्र—

पं० जवाहरलाल नेहरू महाविद्यालय, बाँदा (उ० प्र०)

डॉ० आर०पी०गुप्ता
रीडर, संस्कृत विभाग
पं० जवाहर लाल नेहरू महाविद्यालय, बाँदा

प्रमाणित किया जाता है कि श्रीमती नेत्रा श्रीवास्तव बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय झाँसी की पी-एच.डी. (संस्कृत) उपाधि निर्धारण अधिनियम के अन्तर्गत पूर्णकालिक स्तर पर "ऋक् प्रातिशाख्य एवं वाजसनेयी प्रातिशाख्यों का तुलनात्मक अध्ययन - पाणिनीय शिक्षा के सन्दर्भ में" शीर्षक से सम्बद्ध शोध-प्रबन्ध मेरे निर्देशन में सम्पन्न किया है। इन्होंने बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय, झाँसी के नियमानुसार 200 दिनों की अवधि तक उपस्थित रहकर शोधच्छात्रा के रूप मे कार्य किया है। इनका शोध कार्य व्यक्तिगत मौलिकता का संचय है। मैं इनके उज्ज्वल भविष्य की कामना करता हूँ।

शोध निर्देशक

(डॉ० आर०पी० गुप्ता)
रीडर, संस्कृत विभाग

आभार

बचपन से ही संस्कृति के प्रति अभिरुचि ने मेरे संस्कृत अध्ययन को आज इस स्तर पर स्थापित किया हैं। बी० ए० उत्तीर्ण करने के पश्चात् पारिवारिक प्रोत्साहन के फलस्वरूप संस्कृत में एम० ए० करने का सुअवसर प्राप्त हुआ, तत्पश्चात् शोध करने की जिज्ञासा के प्रेरणा श्रोत बने सेवा निवृत्त गुरुवर श्री रामावतार त्रिपाठी, संस्कृत विभाग पं० जवाहर लाल नेहरू महाविद्यालय बाँदा, जिनका मैं हार्दिक आभार अभिव्यक्त करती हूँ। जिनकी प्रेरणा से इस शोध प्रबन्ध का शीर्षक विस्तृत रूपेण निर्धारित हुआ।

शोध प्रबन्ध की पूर्णता के प्रति गुरुवर डॉ० आर० पी० गुप्ता जी, रीडर संस्कृत विभाग पं० जवाहर लाल नेहरू महाविद्यालय बाँदा, के प्रति मैं हृदय से आभारी हूँ, जिनके निर्देशन में यह गुरुतर कार्य पूर्ण हुआ। डॉ० ओमकार मिश्र, रीडर संस्कृत विभाग, अतर्रा महाविद्यालय अतर्रा के प्रति भी आभार व्यक्त करती हूँ, जिन्होंने मेरे इस शोध प्रबन्ध को अपने व्यक्तित्त्व से लाभान्वित किया।

इस शोध प्रबन्ध की पूर्णता का रहस्य पग-पग पर स्नेहास्पद प्रोत्साहन देने वाले मेरे श्वसुर श्री माता प्रसाद श्रीवास्तव जी को प्राप्त है, अतः मैं उनके प्रति आभार व्यक्त करती हूँ। इस अवसर पर मैं अपने पतिदेव श्री अभिलाष कुमार श्रीवास्तव जी के प्रति आभार व्यक्त करती हूँ जिनके प्रोत्साहन व प्रयास से यह शोध कार्य आज पूर्ण हो सका।

इस शोध प्रबन्ध के टंकक श्री अखिलेश द्विवेदी व श्री अनुरुद्ध कुमार त्रिपाठी के प्रति भी मैं आभार व्यक्त करती हूँ, जिनके कठिन परिश्रम से यह दुरूह कार्य पूर्ण हो सका।

अन्त में मैं उन लोगों के प्रति आभार व्यक्त करती हूँ, जिनका प्रत्यक्षा या परोक्ष रूप में इस शोध प्रबन्ध की पूर्णता में सहयोग रहा।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध को पूर्ण बनाने का पूरा प्रयास किया गया है। स्वभावजन्य अनवधानतावश हुई त्रुटियों के लिए विद्वज्जनों से सविनय क्षमा प्रार्थिनी हूँ।

शोधच्छात्रा
श्रीमती नेत्रा श्रीवास्तव
एम० ए० संस्कृत.

ऋक् प्रातिशाख्य एवं वाजसनेयी प्रातिशाख्यों का तुलनात्मक अध्ययन - पाणिनीय शिक्षा के सन्दर्भ में

विषय-सूची

भूमिका

भूमिका
प्रथम खण्ड - वेद

वेदों का महत्व :-

वेद केवल भारतीय वाङ्मय में ही नहीं अपितु विश्व के सभी उपलब्ध ग्रन्थों में सर्वप्राचीन हैं। इनके रचनाकाल के विषय में विवाद भले ही हैं, किन्तु भारतीय तथा पाश्चात्य सभी विद्वान् इनके महत्त्व को एकमत से स्वीकार करते हैं। वेद आर्य–जाति के मूल ग्रन्थ हैं तथा उनकी सम्पूर्ण संस्कृति इन्हीं में निहित है। प्राचीन तथा आधुनिक आर्य भाषाओं के उद्गम स्थान वेद ही है। समस्त गेय पदार्थो के मूल बीज वेदों में ही निहित हैं। अतः ज्ञान के सम्बर्द्धन एवं उन्नयन के लिए वेदों का अनुशीलन तथा उनके मौलिक सिद्धान्तों एवं तथ्यों का उद्घाटन अत्यावश्यक है।

यजुर्वेद का महत्व :-

यद्यपि साहित्य वैभव तथा महत्त्व की दृष्टि से यजुर्वेद का स्थान ऋग्वेद के बाद आता है एवं यजुर्वेद तथा सामवेद को ऋग्वेद का परिचारक कहा जाता है तथापि यज्ञ के स्वरूप निर्माण एवं याज्ञिक उपासना के रूप में विकसित होने वाले प्राचीन भारतीय धर्म की दृष्टि से यजुर्वेद कहीं ऋग्वेद की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण है। प्राच्य ऐतिहासिक विचारधारा के अनुसार भारतीय धर्म के इतिहास में यजुर्वेद के समय से एक नये युग का श्रीगणेश हुआ।

यजुर्वेद में याज्ञिक अनुष्ठान से सम्बन्धित मन्त्रों का संकलन है। आचार्य सायण के अनुसार यजुर्वेद यज्ञ की आधार–भित्तिका है, ऋग्वेद और सामवेद उस पर आश्रित चित्र हैं। इसलिए यज्ञ–प्रक्रिया में यजुर्वेद की ही प्रधानता है।[1] पहले

---

1. भित्तिस्थानीयो यजुर्वेदः, चित्रस्थानीयावितरौ तस्मात्कर्मसु यजुर्वेदस्य प्राधाम्यम् (तै०भा०भू० पृष्ठ 7)

यजुर्वेद के द्वारा यज्ञ के स्वरूप का निर्माण होता है और तब ऋग्वेद के क्रियमाण–कार्य कटक कुण्डलादि की भाँति तथा सामवेदीय गायन मणि, मुक्तादि की भाँति सुशोभित होते हैं।[1] इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि याज्ञिक दृष्टिकोण से यजुर्वेद का स्थान सर्वोपरि है।

यजुर्वेदीय यजुष मन्त्र गद्यात्मक हैं जिनमें अक्षरों की संख्या नियत नहीं होती। इसीलिए प्राचीन आचार्यो ने "गद्यात्मकों यजुः"शेषे यजु "अनियताक्षरो यजुः" इत्यादि अनेक प्रकार से यजुष् का लक्षण किया है। निरूक्तकार यास्क के अनुसार यजुष् शब्द यज् धातु से निष्पन्त है। इस प्रकार यज्ञ के स्वरूप का निर्माण जिससे होता है– वह यजुष् है।

यजुर्वेद के सम्प्रदाय – यजुर्वेद के दो सम्प्रदाय है–

(1) ब्रह्म सम्प्रदाय

(2) आदित्य सम्प्रदाय

(१) ब्रह्म सम्प्रदाय :-

इस सम्प्रदाय का प्रतिनिधि कृष्णयजुर्वेद है। ब्रह्म द्वारा प्राप्त वेद के विभागों में महर्षि व्यास ने जिस यजुर्वेद को वैशम्पायन को पढ़ाया था वह यजुर्वेद कृष्ण–यजुर्वेद के नाम से प्रसिद्ध है।

(२) आदित्य सम्प्रदाय :-

इस सम्प्रदाय का प्रतिनिधि शुक्लयजुर्वेद है। यह वेद याज्ञवल्क्य को आत्दिय द्वारा प्राप्त हुआ है।

यजुर्वेद की शाखाएँ :-

चरणव्यूह तथा व्याकरण महाभाष्य में यजुर्वेद की एक सौ एक शाखाओं का

---

1. जाते देहे भवत्यस्य कट्कादि विभूषणम्। आश्रितं मणिमुक्तादि कटकादौ यथा तथा। यजुजति यज्ञ देहे स्याहग्भिस्तद्विभूषणम्। सामाख्या मणिमुक्ताद्या ऋक्षु तासु समाश्रितः। (सा०भू० श्लोक12–13 पृ0 63)

उल्लेख मिलता है, किन्तु दुर्भाग्य से उनमें से सभी शाखाएँ उपलब्ध नहीं होतीं। जो उपलब्ध होती हैं उनकी संख्या नगण्य है। यजुर्वेद की उपलब्ध शाखाओं का परिचय इस प्रकार है–

कृष्णयजुर्वेद की शाखायें :-

चरणव्यूह में कृष्णयजुर्वेद की छियासी शाखाओं का उल्लेख किया गया है, जिनमें से चार शाखाएँ उपलब्ध हैं–

(१) तैत्तिरीय शाखा :-

कृष्णयजुर्वेदीय उपलब्ध शाखाओं में इस शाखा का अत्यधिक महत्त्व है। कुछ महाराष्ट्र प्रान्त तथा सम्पूर्ण आन्ध्र पद्रेश और द्रविण प्रान्त वाले इसी शाखा के अनुयायी हैं। समस्त वैदिक शाखाओं में संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद, श्रौत्र–सूत्र और गृह्म–सूत्रों की पूर्णतः उपलब्धि से इसका वैशिष्ट्य स्वीकार किया जा सकता है। तैत्तिरीय संहिता में सातकाण्ड, चौवालिस प्रपाठक, छः सौ इक्यावन अनुवाक और दो हजार एक सौ अट्ठानबे कण्डिकाएँ हैं। यह आचार्य सायण की अपनी शाखा है इसलिए तथा यज्ञ की दृष्टि से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण होने के कारण उन्होंने सर्वप्रथम तैत्तिरीय संहिता पर ही भाष्य लिखा।

(२) मैत्रायणीय शाखा :-

गुजरात और दक्षिण भारत के कुछ स्थलों पर इस शाखा के अनुयायी हैं। कतिपय इस वेद के अध्येता परिवार नासिक में भी हैं। इस संहिता में चार काण्ड, चौवन प्रपाठक और दो हजार एक सौ चौवालिस मन्त्र हैं।

(३) कठ शाखा :-

पतंजलि के अनुसार पहले कठ संहिता का पठन–पाठन प्रत्येक ग्राम में होता था।[1] इससे स्पष्ट होता है कि प्राचीन काल में इस संहिता का अधिक प्रचार

---

1. ग्रामे ग्रामे काठकं कलापकं च प्रोच्यते (व्या०म० 4/3/101)

था, किन्तु आजकल इस शाखा के अनुयायी नगण्य संख्या में हैं। यह कि संहिता खण्डों, स्थानकों, अनुवचनों तथा अनुवाकों में विभक्त हैं, पर इसमें खण्डों की संख्या पॉच, स्थानकों की संख्या चालीस, अनुवचनों की संख्या एक सौ तेरह, अनुवाकों की संख्या आठ सौ तैंतालिस तथा मन्त्रों की संख्या तीन हजार इक्यानबे है। इस संहिता में मन्त्र और ब्राह्मणों की सम्मिलित संख्या अट्ठारह हजार है।

(४) कपिष्ठल कठ :-

इस शाखा की संहिता अंशतः उपलब्ध है। यह संहिता अष्टक तथा अध्यायों में विभक्त है। आजकल इसके अनुयायी नहीं मिलते।

शुक्ल यजुर्वेद की शाखाएँ :— चरणव्यूह तथा श्रीमद्भागवत् इत्यादि ग्रन्थों में शुक्ल यजुर्वेद की पन्द्रह शाखाओं का उल्लेख मिलता है, किन्तु इनमें से आजकल काण्व तथा माध्यन्दिन दो संहिताएँ ही उपलब्ध होती हैं।

(१) काण्व शाखा :-

सम्प्रति इस शाखा के अनुयायी कतिपय परिवार बंगाल, उड़ीसा, महाराष्ट्र, तमिलनाडु, के शिष्य तथा बौधायन के पुत्र महर्षि काण्व हैं। इस शाखा की संहिता में चालीस अध्याय, चार दशक, तीन सौ अट्ठाइस अनुवाक् तथा दो हजार छियासी मन्त्र हैं। इस संहिता का चालीसवॉ अध्याय ईशावास्योपनिषद् या ईशोपनिषद् है। इस शाखा का ब्राह्मण शतपथ ब्राह्मण के नाम से ही प्रसद्धि है जिसमें एक सौ चार अध्याय हैं। शतपथ ब्राह्मण के चौदहवें अध्याय के अन्तर्गत बृहदारण्यक भाग बृहदारण्य कोपनिषद् कहलाता है। इस शाखा के अनुयायी माध्यन्दिन शाखाओं द्वारा परिगृहीत वेदांगो का अनुसरण करते हैं।

माध्यन्दिन शाखा :-

उत्तर—भारत तथा दक्षिण—भारत के सभी प्रान्तों में इस शाखा के बहुसंख्यक

अध्येता–परिवार उपलब्ध हैं। इस संहिता के व्याख्याता याज्ञवल्क्य के प्रथम शिष्य महर्षि मध्यन्दिन है। संहिता में चालीस अध्याय तथा एक हजार नौ सौ पचहत्तर मन्त्र हैं। इस संहिता का चालीसवाँ अध्याय ईशावास्योपनिषद् है। इस शाखा का भी ब्राह्मण शतपथ ब्राह्मण के नाम से प्रसिद्ध है जिसमें सौ अध्याय हैं। शतपथ ब्राह्मण के चौदहवें अध्याय के बृहदारण्यक भाग को बृहदारण्यक उपनिषद् कहा जाता है। इस शाखा की संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् तथा वेदांग अपनी ज्यों की त्यों अवस्था में सुरक्षित हैं।

कृष्णयजुर्वेद तथा शुक्ल यजुर्वेद में वैषम्य :-

यद्यपि इन दोनों वेदों में दर्श–पौर्णमास, अग्निहोत्र, चातुर्मास्य, अग्निष्टोम राजसूय, अश्वमेघ, इत्यादि यज्ञों का विधान समान रूपेण किया गया है तथापि इनमें वैषम्य भी है। यह भेद मुख्यतः इनके स्वरूप पर ही आश्रित है। शुक्ल यजुर्वेद में दर्शपौर्णमास इत्यादि यज्ञों तथा अनुष्ठानों के लिए उपयोगी मन्त्रों का संग्रह है, जबकि कृष्ण–यजुर्वेद में मन्त्रों के साथ–साथ तन्नियोजक ब्राह्मणों का भी सन्निवेश है। मन्त्र और ब्राह्मणों का सम्मिश्रण ही कृष्ण यजुर्वेद के कृष्णत्व एवं मन्त्रों का विशुद्ध और अमिश्रित रूप शुक्ल–यजुर्वेद के शुक्लत्व का कारण हैं।

द्वितीय खण्ड - प्रातिशाख्य

प्रातिशाख्यों का प्रयोजन :-

वेदों को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए प्रातिशाख्य ग्रन्थों का प्रणयन हुआ। कात्यायन ने अपने प्रातिशाख्य में इस बात का उद्‌घोष करते हुए यह विधान किया है कि वर्णो के दोष के विवेचन के लिए प्रातिशाख्य ग्रन्थों का अध्ययन करना चाहिए।[1] तात्पर्य यह है कि जब तक किसी पद के सम्बन्ध में यह ज्ञात नहीं हो जाता कि इसका साधु रूप क्या है और उसमें प्रयुक्त वर्णो का उच्चारण

1. *वर्णदोष विवेकार्थम् (वा०प्रा० 1/26)*

किस प्रकार होता है? तब तक उसकी शुद्धता का ज्ञान नहीं हो सकता। प्रातिशाख्यों द्वारा वैदिक पदों के शुद्ध रूप एवं उच्चारण का ज्ञान हो जाता है। पदों के शुद्ध रूप तथा उच्चारण का ज्ञान हो जाने पर उनके दोषों का पृथक्करण हो जाता है। इस प्रकार वैदिक पदों के स्वरूप एवं उनमें प्रयुक्त वर्णों के शुद्ध उच्चारण की रक्षा के लिए प्रातिशाख्यों का अध्ययन आवश्यक है।

भाष्यकार उवट ने वा0 प्रा0 के भाष्य में प्रातिशाख्यों का प्रयोजन बतलाते हुए कहा है कि वेदों के ठीक–ठीक पाठ को न जानने वाले का वैदिक जपादि क्रियाओं में अधिकार नहीं होता, अतः समुचित पाठ को जानने के लिए वेद–अध्येता का प्रातिशाख्य ग्रन्थों का अध्ययन करना चाहिए।[1]

तै0 प्रा0 में अध्येता तथा आचार्य की योग्यता के विषय में कहा गया है कि वेद के अध्येता को गुरूत्व, लघुता इत्यादि का ज्ञान होना चाहिए तथा आचार्यत्व करने वाले को पदपाठ और क्रम पाठ के भेद इत्यादि का ज्ञान होना चाहिए।[2]

ऋ0 प्रा0 के भाष्य के प्रारम्भ में भाष्यकार उवट ने प्रातिशाख्यों का प्रयोजन बतलाते हुए कहा कि शिक्षा, छन्द और व्याकरण के द्वारा सामान्य रूप से कहा गया जो लक्षण (विधान) है वह इस शाखा (जिस शाखा विशेष का वह प्रातिशाख्य है) की संहिता में इस प्रकार से है..... यह बतलाना प्रातिशाख्यों का प्रयोजन है।[1] तात्पर्य यह है कि शिक्षा, छन्द और व्याकरण में सामान्य रूप से वेदों की सभी शाखाओं से सम्बन्धित विधान किये गये हैं किन्तु प्रातिशाख्य ग्रन्थ शिक्षा, छन्द और व्याकरण इत्यादि में विहित नियमों को अपनी शाखा की संहिता तक

---

1. जपादौ नाधिकारोऽस्ति सम्यक्पाठमजानतः। प्रातिशाख्य मतोज्ञेयः सम्यक्पापाठस्य सिद्धये। (वा0प्रा0 1/1 उ0)

2. तै0 प्रा0 24/5–6

3. शिक्षाछन्दो व्याकरणैः सामान्येनोक्तलक्षणम्। तदेवमिह शाखायामिति शास्त्र प्रयोजनम्।।

ही सीमित रखकर तद्विषयक विधान प्रस्तुत करता है। प्रातिशाख्यों का भाष्यकार उवट द्वारा प्रस्तुत किया गया यह प्रयोजन केवल ऋ0 प्रा0 पर ही पूर्णतः लागू होता है क्योंकि छन्द विषयक विधान केवल इसी प्रातिशाख्य में किया गया है। अन्य प्रातिशाख्यों में छन्द विषयक विधान न होने से यह पूर्णतः उन पर लागू नहीं होता।

प्रातिशाख्य शब्द की निरूक्ति तथा क्षेत्र :-

प्रातिशाख्य का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ है—वेद की शाखा विशेष से सम्बन्धित। प्रातिशाख्य शब्द की निरूक्ति करते हुए माधव तथा अनन्त दोनों का कथन है कि "शाखायां शाखायां प्रति प्रतिशाखं प्रतिशाखं भवमिति प्रातिशाख्यम्" अर्थात् वेद के किसी एक शाखा से सम्बन्धित होने के कारण ही इनका नाम प्रातिशाख्य है।[1] इस निरूक्ति के आधार पर कतिपय मनीषी उतने ही प्रातिशाख्यों के होने की सम्भावना करते हैं जितनी वेदों की शाखाएँ हैं। किन्तु यह सम्भावना सटीक प्रतीत नहीं होती।

प्रातिशाख्यों के अध्ययन से यह विदित होता है कि इनमें किसी एक शाखा से सम्बन्धित नियमों का ही निर्देश नहीं किया गया है, अपितु एक चरण की सभी शाखाओं की संहिताओं से सम्बन्धित नियमों का निर्देश किया गया है। प्रातिशाख्यों का सम्बन्ध चरण की सम्पूर्ण शाखाओं की संहिताओं से होने के कारण ही निरूक्तकार यास्क का कथन है कि 'पदो को' प्रकृति मानकर समस्त चरणों के प्रातिशाख्य अपना विधान करते हैं।[3]

प्रातिशाख्यों के लिए पार्षद शब्द का भी प्रयोग मिलता है, जिसका अर्थ है

1. द्रष्टब्य सिद्धान्त कौमुदी में पाणिनि पर ज्ञानेन्द्र सरस्वती की टीका 4/3/59 तथा वा0प्रा0 1/1 अ0।

2. पद प्रकृतीनि सर्वचरणानां पार्षदानि (नि0 1/17)

कि पर्षद अर्थात् परिषद से सम्बन्धित। प्राचीन काल में ऐसी परिषदें (गोष्ठियाँ) संगठित होती थीं, जिनमें वेद विषयक, ध्वनि–विज्ञान विषयक, व्याकरण–विषयक इत्यादि विचार नियमित रूप से हुआ करते थे। इन परिषदों में समान चरण वाली विभिन्न शाखाओं के अध्येता सम्मिलित होते थे। ऐसी परिषदों से सम्बन्धित होने के कारण प्रातिशाख्यों को पार्षद कहा जाता है। आचार्य दुर्ग ने निरुक्त 1/17 के भाष्य में पार्षद शब्द को स्पष्ट करते हुए कहा है कि पार्षद या प्रातिशाख्य वे ग्रन्थ हैं, जो अपने चरण के वेदाध्यायियों की परिषद में चरण के प्रत्येक शाखा पाठ में नियमित पद विभाग, प्रगृह्य, क्रमपाठ, संहितापाठ और स्वर के लक्षण को कहते हैं।[1] इससे स्पष्ट होता है कि प्रातिशाख्यों का सम्बन्ध चरण के अन्तर्गत आने वाली समस्त शाखाओं से है।

तै0 प्रा0 कीटीका वैदिकाभारण में भी प्रातिशाख्यों का सम्बन्ध वेद की अनेक शाखाओं की संहिताओं के साथ बतलाया गया है। यथा–ऋ0 प्रा0 का सम्बन्ध ऋग्वेद की शाकल और वाष्कल इन दोनों संहिताओं के साथ है। वैदिकाभरण का कथन है कि तै0 प्रा0 के विधानों के जो उदाहरण तैत्तिरीय संहिता में नहीं मिलते, वे अवश्य ही उन शाखाओं के हैं जो आज अनुपलब्ध है।[2] कुमारिल भट्ट ने भी तन्त्र वार्तिक में प्रातिशाख्यों की प्रत्येक चरण के साथ सम्बन्ध होने का संकेत किया है।[3]

डॉ0 सिद्धेश्वर वयी तथा बलदेव उपाध्याय जैसे कतिपय आधुनिक विद्वानों

---

1. स्वचरण परिषद्येव यैः प्रातिशाख्यानियतमेव पदावग्रह प्रगृहय क्रमसंहिता स्वर लक्षणमुच्यते तानीमानी पार्षदानि प्रातिशाख्यानीत्यर्थः (नि 1/7 दुर्ग)

2. अनेक शाखा विषयत्वे प्रातिशाख्यम् विरूध्यते। नैतदस्ति। द्विात्रिशाखा विषयत्वेऽपि तद् साधारणतया उपपेतः। तथा बहुवचानां शाकल वाष्कलात्मक शाखाद्वयविषयं प्रातिशाख्यं प्रसिद्धं। एवमुत्तरत्रापि द्रष्टव्यम्।

3. तन्त्र कार्तिक 5/1/3

ने भी प्रातिशाख्यों का सम्बन्ध वेद की अनेक शाखाओं से माना है।[1] युधिष्ठिर मीमांसक ने प्रातिशाख्य शब्द को ही चरणवाची माना है और प्रातिशाख्य शब्द की निरूक्ति 'शाखां शाखां प्रतिशाखम्, प्रतिशाखेषु भवं प्रातिशाख्यम्'' इसी प्रकार किया है।[2] प्रातिशाख्य का सम्बन्ध केवल एक शाखा से मानने पर पतंजलि द्वारा ज्ञापित वेदों की एक हजार एक सौ इकतीस शाखाओं के लिए उतने ही प्रातिशाख्य ग्रन्थ होने चाहिए। यदि वेद के अधिकांश शाखाओं की भाँति प्रातिशाख्यों की भी अनुपलब्धि मानी जाय अथवा यवन काल में भारतीय वाङ्मय के विनाश की भाँति प्रातिशाख्यों का भी विनाश मान लिया जाय तब भी संहिता, ब्राह्मण सूत्र इत्यादि ग्रन्थों में उल्लिखित होने चाहिए। परन्तु सुसंगठित रूप से कतिपय उपलब्ध प्रातिशाख्यों की ही बात स्पष्ट होती है।

प्रातिशाख्यों को चरण से सम्बन्धित मानने का एक पुष्ट प्रमाण तो यह ही है कि जिस निरूक्ति के आधार पर प्रातिशाख्यों को किसी शाखा विशेष से सम्बन्धित माना जाता है उस निरूक्ति को देने वाला भाष्यकार अनन्त ने भी यह सिद्ध किया है कि काण्वादि पन्द्रह शाखाओं में केवल एक ही प्रातिशाख्य वाजसनेयि प्रातिशाख्य है।[3] यहाँ यह शंका हो सकती है कि जब अनन्त प्रातिशाख्यों का सम्बन्ध वेद के एक चरण से मानते हैं तो प्रातिशाख्यों को शाखायां शाखायां प्रति शाखम्। प्रतिशाखं भवमिति प्रातिशाख्यम् इस लक्षण से कैसे समन्वित किया।'' इसका समाधान यह है कि जिस प्रकार 'प्रतिवृक्षं विद्योतते विद्युत्' आदि में विद्युत् के एक रहने पर भी उसका सम्बन्ध अनेक वृक्षों के साथ है, उसी प्रकार प्रातिशाख्यों का स्वचरणान्तर्गत अनेक शाखाओं से सम्बन्ध माना

---

1. *बल्देव उपाध्याय – वैदिक साहित्य और संस्कृति, पृ0 299*
2. *संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास भाग–2 पृष्ठ 285–86*
3. *तस्मात्सिद्धं कण्वादिपञ्चदशशाखासु एकमेव प्रातिशाख्यमिति। (वा0प्रा01/1)*

जा सकता है।

उपर्युक्त बातों के आधार पर यह कहना अधिक संगत प्रतीत होता है कि प्रातिशाख्यों का सम्बन्ध, किसी शिक्षा विशेष से न होकरण चरण के अन्तर्गत आने वाली सभी शाखाओं से होता है, जिसमें कोई एक अधिक प्रसिद्ध या प्रचलित शाखा उसका मुख्य आधार होती है। चरण व्यूह 1/1 के भाष्य में चरण शब्द को स्पष्ट करते हुए भाष्यकारमहिदास का कथन है कि वेदराशि के चारो विभाग चरण कहे जाते हैं।[1] इससे स्पष्ट होता है कि ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद –ये अलग–अलग चरण हैं। ऋक्चरण, यजुर्वेद यजुःचरण, सामवेद सामचरण और अथर्ववेद अथर्वचरण है। यजुचरण के दो सम्प्रदाय– कृष्णयजुः चरण तथा शुक्लयजुःचरण है। इन चरणों के अन्तर्गत अनेक शाखाएँ होती हैं। प्रत्येक प्रातिशाख्य का सम्बन्ध इन चरणों में से किसी से होता है।

उपलब्ध प्रातिशाख्य ग्रन्थ :-

उपलब्ध प्रातिशाख्य ग्रन्थों के विषय में विद्वानों में मतभेद हैं। सम्प्रति कतिपय ऐसे भी ग्रन्थ उपलब्ध हैं, जिनको कुछ विद्वान प्रातिशाख्य मानते हैं और कुछ नहीं'। उपलब्ध ग्रन्थों में छः प्रातिशाख्य महत्त्वपूर्ण हैं – (1) ऋग्वेद प्रातिशाख्य (2) तैत्तिरीय प्रातिशाख्य (3) वाजसनेयि प्रातिशाख्य (4) चतुरध्यायिका (5) अथर्ववेद प्रातिशाख्य और (6) ऋक्तन्त्र।

एम0 एम0 रामनाथ दीक्षित ने सामतन्त्र, अक्षरतन्त्र और पुष्य सूत्र को भी प्रातिशाख्य स्वीकार किया है। उनके अनुसार ऋक्तन्त्र, सामतन्त्र अक्षरतन्त्र और पुष्यसूत्र ये चार सामवेदीय प्रातिशाख्य हैं।[2] युधिष्ठिर मीमांसक ने अश्वलायन

---

1. वेदराशेः चतुर्विभागाच्चरण उच्यते। (च0व्यू0 1/1 म0)

2. सति सामवेदे चत्वारि प्रातिशाख्यानि – ऋक्तन्त्रं, सामतन्त्रं, अक्षरतन्त्रं, पुष्यसूत्रं चेति (सामतन्त्र, भूमिका, पृ0 3)

प्रातिशाख्य, वाष्कल प्रातिशाख्य, शाङ्खायन प्रातिशाख्य के भी होने की सम्भावना का उल्लेख किया है।[1]

प्रातिशाख्यों में प्रतिपादित विषय :-

वेद भी संहिताओं के बाह्य स्वरूप की रक्षा के लिए प्रातिशाख्य–ग्रन्थों का प्रणयन हुआ। जैसा की पहले कहा जा चुका है कि प्रत्येक प्रातिशाख्य मुख्यतः किसी चरण विशेष की शाखाओं की संहिताओं से सम्बन्धित होते हैं। अपने चरण की शाखाओं के संहितापाठ तथा पदपाठ की रक्षा करना ही इनका मूल उद्देश्य है, अतः सभी प्रातिशाख्य तद्विषयक अनेक प्रकार के विधान किये हैं। इनमें पदों से संहितापाठ तथा संहिता से पदपाठ बनाने के लिए आवश्यक नियम कहे गये हैं। संहितापाठ तथा पदपाठ दोनों की रक्षा के लिए क्रमपाठ के निर्माण हेतु भी प्रायः सभी प्रातिशाख्यों में विधान किये गये हैं। इसके साथ ही संहितापाठ तथा पदपाठ विषयक उदात्तादि स्वरों का भी विवेचन किया गया है। संहिता के मन्त्रों के शुद्ध उच्चारण के लिए संहितागत वर्णो के उच्चारण, कतिपय वर्णो के स्वरूप तथा उदात्तादि स्वरों के उच्चारण विषयक विधान भी किये गये हैं। इन ग्रन्थों में क्रमपाठ, वेदाध्ययन इत्यादि विषयक कतिपय ऐसे विधान प्रस्तुत हैं, जो अन्यत्र उपलब्ध नहीं होते।

प्रातिशाख्यों का पौर्वापर्य :-

प्राचीनता तथा प्रामाणिकता की दृष्टि से ऋग्वेद प्रातिशाख्य अग्रगण्य हैं। इसके बाद तैत्तिरीय का स्थान है। ऋग्वेद प्रातिशाख्य तथा तैत्तिरीय प्रातिशाख्य के इस क्रम को सभी विद्वान एकमत से स्वीकार करते हैं। तैत्तिरीय प्रातिशाख्य के बाद किस प्रातिशाख्य का स्थान है, इस विषय में विद्वानों में मतभेद है। डॉ0 सिद्धेश्वर वर्मा जैसे कतिपय विद्वान तैत्तिरीय प्रातिशाख्य के बाद चतुराध्यायिका

1. *संस्कृत व्याकरण का इतिहास भाग–2, पृ0 325*

की रचना मानते हैं और चतुराध्यायिका के बाद वाजसनेयी प्रातिशाख्य की। किन्तु मैक्समूलर, गोल्डस्टुकर आदि विद्वान् तैत्तिरीय प्रातिशाख्य के बाद वाजसनेयि प्रातिशाख्य इसके बाद चतुरध्यायिका की रचना मानते हैं। विषय वस्तु तथा रचना शैली इत्यादि के आधार पर दोनों समकालीन रचनाएँ प्रतीत होती हैं। वाजसनेयि प्रातिशाख्य तथा चतुरध्यायिका के पश्चात् सभी विद्वान एकमत से ऋकतन्त्र का समय मानते हैं। बर्नेल के अनुसार यह पाणिनि के बाद.भी रचना है, किन्तु डॉ० सूर्यकान्त ने पुष्ट प्रमाणों द्वारा इसे पाणिनि के बाद की रचना होने से रचनाकाल की दृष्टि से ऋक्तन्त्र के बाद के मानते हैं। इस विवरण के आधार पर प्रातिशाख्यों का क्रम इस प्रकार हैं–

(1) ऋग्वेद प्रातिशाख्य

(2) तैत्तिरीय प्रातिशाख्य

(3) वाजसनेयि प्रातिशाख्य

(4) चतुरध्यायिका प्रातिशाख्य

(5) ऋक्तन्त्र

(6) अथर्ववेद प्रातिशाख्य

प्रातिशाख्य ग्रन्थों का रचनाकाल :-

प्रातिशाख्य ग्रन्थों के रचनाकाल के विषय में विद्वानों में बड़ा मतभेद रहा है। कुछ लोग इन्हें पाणिनि से पूर्व की रचना मानते हैं और कुछ लोग बाद की। इसका कारण यह है कि प्राचीनकाल के भारतीय आचार्यो ने अपने विषय में कहीं कुछ भी नहीं लिखा है। उनका एकमात्र उद्देश्य ज्ञानार्जन करना होता था। इसीलिए प्राचीन ग्रन्थों और ग्रन्थकारों के निश्चित समय का निर्णय करना एक जटिल समस्या है। यहॉ तक की तैत्तिरीय प्रातिशाख्य के कर्त्ता का नाम तक भी नहीं ज्ञात हैं। प्रातिशाख्यों के कर्त्ता के रूप में उपलब्ध नामों के विषय में यह

संशय भी होता है कि निर्दिष्ट आचार्य उसके रचयिता हैं अथवा उपदेशक।

प्रातिशाख्यों एवं पाणिनि के अष्टाध्यायी की रचना शैली, उसमें प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दों, उनमें उल्लिखित आचार्यो के नामों और उनके सूत्रों की तुलना से यह स्पष्ट होता है कि ऋ0 प्रा0, वा0 प्रा0, च0 अ0 तथा ऋक्तन्त्र पाणिनि से पूर्ववर्ती हैं और डॉ0 सूर्यकान्त द्वारा सम्पादित अथर्ववेद प्रातिशाख्य पाणिनि से परवर्ती। अतः अथर्ववेद प्रातिशाख्य के अतिरिक्त सभी प्रातिशाख्यों के रचनाकाल की निम्नतम सीमा पाणिनि का समय हैं।[1]

प्रातिशाख्यों में सबसे प्राचीन ऋ0 प्रा0 17/42 में यास्काचार्य का मत प्रस्तुत किया गया है। इससे यह स्पष्ट होता है कि ऋ0 प्रा0 की रचना यास्क के बाद हुई। जब सबसे प्राचीन प्रातिशाख्य ग्रन्थ के रचना काल की उच्चतम सीमा यास्क का समय है तो उससे परवर्ती प्रातिशाख्य अवश्य ही यास्क के बाद के होगें।

यास्क का समय ई0 पू0 700 तथा पाणिनि का समय ई0 पू0 500 है। इस प्रकार प्रातिशाख्यों के रचनाकाल की निम्नतम सीमा ई0 पू0 500 और उच्चतम सीमा ई0 पू0 700 है। अर्थात् प्रातिशाख्यों की रचना ई0 पू0 500 और ई0 पू0 700 के मध्य में हुई।

प्रातिशाख्यों का संक्षिप्त परिचय :- ऋग्वेद प्रातिशाख्य

ऋग्वेद प्रातिशाख्य का महत्त्व :-

भारतीय साहित्य में जहाँ कहीं भी वेदों का प्रसंग आया है वहाँ ऋग्वेद का सर्वप्रथम उल्लेख हुआ है। सर्वत्र सर्वप्रथम उल्लिखित होने के कारण ऋग्वेद सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हैं। अतः इस वेद से सम्बन्धित होने से ऋग्वेद प्रातिशाख्य का

---

1. डॉ0 राम गोपाल : वैदिक व्याकरण पृष्ठ 7। डॉ0 सूर्यकान्त अथर्ववेद प्रातिशाख्य पृ0 64।

महत्त्व को भी विद्वान् स्वीकार करते हैं। इसके महत्त्व को रेखांकित करते हुए डॉ0 वीरेन्द्र कुमार वर्मा लिखते हैं कि "ऋग्वेद प्रातिशाख्य प्राचीनता, प्रामाणिकता तथा विषय के विस्तृत एवं वैज्ञानिक अध्ययन की दृष्टि से सभी प्रातिशाख्य ग्रन्थों में शीर्ष स्थानीय हैं। अतः यह नितान्त स्वाभाविक है कि अन्य वेदों के प्रातिशाख्यों पर ऋग्वेद प्रातिशाख्य का प्रभाव विशाल है।"[1]

ऋग्वेद प्रातिशाख्य के स्वरूप :-

ऋक् चरण की शाखाओं की संहिताओं से सम्बन्धित यह ग्रन्थ आचार्य शौनक की रचना है। इसका सम्बन्ध मुख्यतः ऋक चरण की शाकल शाखा की संहिता से है। अन्य वेदों से सम्बन्धित वर्तमान समय में, उपलब्ध सभी प्रतिशाख्यों में यह सबसे विशाल, प्राचीन तथा विषय विवेचन के दृष्टिकोण से सबसे महत्त्वपूर्ण है। इस प्रातिशाख्य की रचना इन्दोबद्ध तथा तीन अध्यायों में हुई है। जिसमें कुल (529) पॉच सौ उन्तीस कारिकाएँ हैं। सम्पूर्ण प्रातिशाख्य (18) अट्ठारह पटलों में विभक्त है। कतिपय ऋग्वेद, प्रातिशाख्य के हस्तलेख सूत्र शैली में भी उपलब्ध होते हैं। जिनमें सम्पूर्ण सूत्रों की संख्या एक हजार सरसठ (1067) है।

ऋग्वेद प्रातिशाख्य के प्रथम पटल में प्रातिशाख्यों के विधानों को समझने के लिए आवश्यक परिभाषाएँ विहित हैं। दूसरे तथा चौथे पटल में सन्धियों का विवेचन है। तीसरे पटल में स्वर, पॉचवें पटल में नति तथा छठे पटल में द्वित्व विषयक विधान हैं। सातवें, आठवें, तथा नवें पटल में पदपाठ पदान्त तथा पदादि ह्स्व स्वरों के संहिता में दीर्घ होने का विधान प्रस्तुत हैं। दसवें तथा ग्यारहवें पटल में क्रमपाठ के नियमों का उल्लेख है। बारहवें पटल में पदविचार, तेरहवे पटल में वर्णोत्पत्ति, चोदहवें पटल में वर्णोच्चारण में होने वाले दोषों तथा पन्द्रहवें

---

1. डॉ0 वीरेन्द्र कुमार वर्मा, ऋग्वेद प्रातिशाख्य एक परिशीलन भूमिका, पृ0 23

पटल में वेदाध्ययन की विषयक विधान किया गया है।

सम्प्रति ऋग्वेद प्रातिशाख्य की चार टीकाएँ उपलब्ध होती हैं –(1) उवटभाष्य पार्षद व्याख्या (2) पार्षदवृत्ति (3) विष्णुमित्र कृत वर्गद्वयवृत्ति और पशुपतिनाथ शास्त्री कृत व्याख्या ऋग्वेद प्रातिशाख्य के सात संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं –(1) सर्वप्रथम एम० ए० रेग्नियर ने 1859 में फ्रैंच भाषा में सूत्रानुवाद तथा उवटभाष्य के आधार पर संक्षिप्त व्याख्या सहित प्रकाशित किया। (2) उसके बाद द्वितीय संस्करण का मैक्समूलर ने 1869 में जर्मन भाषा में सूत्रानुवाद तथा उवटभाष्य के आधार पर संक्षिप्त व्याख्या के साथ प्रकाशित किया।

ऋग्वेद प्रातिशाख्य में प्रतिपादित मुख्य विषय :-

ऋ० प्रा० में मुख्यतः वर्णविचार, पदविचार, संधि–विचार, स्वरविचार, छन्दोविचार, क्रम–पाठ–विचार, औद वेदाध्ययन के विषय में सम्यक् विचार किया गया है। जिनका यहाँ विवेचन करना हमारा लक्ष्य नहीं है। परन्तु समीक्षा करते समय इन सभी विषयों पर ध्यान दिया गया है। जिनका संकलन हमने तुलनात्मक अध्ययन में किया है।

ऋग्वेद प्रातिशाख्य की विशेषताएँ :-

ऋग्वेद प्रातिशाख्य में शाकल–शाखा की शैशिरीय संहिता का सर्वांगीण अध्ययन प्रस्तुत है। जिन विषयों का निरूपण शिक्षा ग्रन्थों, व्याकरण–ग्रन्थों और छन्दोग्रन्थों में नहीं किया गया है उन विषयों का उल्लेख ऋग्वेद प्रातिशाख्य में किया गया है अर्थात् क्रम–पाठ, क्रम–हेतु, वेदों का पारायण इत्यादि अनेक विषयों का प्रतिपादन ऋग्वेद प्रातिशाख्य में किया गया है। यद्यपि ऋग्वेद प्रातिशाख्य जैसे ग्रन्थ के महत्व का अपलाप नहीं किया जा सकता तथापि कुछ विद्वान् इस ग्रन्थ की अपलाप करते हुए दिखाई देते हैं। परन्तु आचार्य शौनक के अनुसार "उनके (अपलाप कर्ताओं के) दृष्टि अशक्यार्थता दोष से दूषित होने के कारण

वे इस ग्रन्थ की निन्दा करते हैं।[1] वास्तव में इस शास्त्र में विरूद्ध विधान नहीं हैं। इसलिए यह शास्त्र निन्दनीय नहीं हैं। इसके अतिरिक्त छः वेदांगों के अतिरिक्त यह भी एक वेदांग है। यह वेदांगशास्त्र ऋषिप्रोक्त है, और ऋषि प्रोक्त लोक में प्रमाण होता है। इन कारणों से ऋग्वेद प्रातिशाख्य का सप्रयोजन होना सिद्ध है। ऋग्वेद प्रातिशाख्य की विशेषताओं को अकिंत करने का विशेष प्रयत्न किया है आचार्य शौनक ने। आचार्य शौनक ने मन्त्रों के उच्चारण की मौखिक परंपरा को दृष्टि में रखकर ऋग्वेद संहिता के प्रत्येक स्थल का वर्ण, पद, सन्धि, स्वर, छन्द तथा क्रमपाठ इत्यादि अनेक दृष्टियों से सूक्ष्म निरीक्षण किया है। ऋ० प्रा० के विशिष्टताओं को दर्शाने के लिये शौनक ने तीन[2] प्रकार के सूत्रों का निर्माण किया है।

(1) सामान्य सूत्र

(2) अपवाद सूत्र

(3) निपातन सूत्र

सर्वप्रथम उन्होंने विस्तृत क्षेत्र वाली विधियों को सामान्य सूत्र के रूप में उपनिबद्ध किया है। सामान्य सूत्रों तथा अपवाद सूत्रों के अन्तर्गत न आने वाले तथा सम्पूर्ण शास्त्र के अपवादभूत स्थलों को एक एक करके निपातन के रूप में प्रस्तुत किया गया है। ऋग्वेद संहिता के सभी स्थल इन सूत्रों के अन्तर्गत आ गये हैं।

ऋ० प्रा० की निम्नलिखित तीन विशेषताएँ उल्लेखनीय हैं-

पारिभाषिक शब्दों की महत्त्व को ध्यान में रखते हुए आचार्य शौनक ने मुख्यतः प्रथम पटल में 'समानाक्षर' ''संध्यक्षर' इत्यादि अनेक पारिभाषिक शब्दों का

---

1. *डॉ० वीरेन्द्र कुमार वर्मा, ऋग्वेद प्रातिशाख्य एक परिशीलन भूमिका, पृ028*
2. *द्रष्टय परिभाषा सूत्र*

विधान किया है।[1] पारिभाषिक शब्दों की दृष्टि से ऋग्वेद प्रातिशाख्य का अत्यधिक महत्त्व है। प्रातिशाख्यों में प्रयुक्त अधिकतर पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग इस प्रातिशाख्य की पूर्ववर्ती किसी भी ग्रन्थ में अनुपलब्ध है।

अपने सूत्रों के अवबोध के लिए तथा उनके समुचित प्रयोग के लिए आचार्य ने अपने सिद्धान्तों को ग्रन्थ के प्रथम पटल के कतिपय 'परिभाषा–सूत्र' में उपनिबद्ध किया है। इन परिभाषा सूत्रों के सहायता से ही आचार्य शौनक के सूत्रों के रहस्य को समझा जा सकता है। जैसे– जिन सूत्रों में यह कहा जाये की "यह वह हो जाता है" वहाँ अत्यन्त समीपता की दृष्टि से उसका (= द्वितीया विभक्ति में निर्दिष्ट का) होना बतलाया गया है।[2] स्वर वर्णों के उच्चारण स्थान और 'प्रश्लिष्ट' सन्धि के उपदेश में जहाँ 'ह्रस्व' स्वर का उल्लेख हो वहाँ ह्रस्व और दीर्घ दोनों सवर्ण स्वर वर्णो को समझना चाहिए।[3] इत्यादि।

कवि प्रतिभा प्रदर्शन के कारण कहीं–कहीं प्रातिशाख्य का गूढ़ पारिभाषिक विषय और भी अधिक गूढ़ हो गया है। एकादश पटल में इस प्रकार के अनेक स्थल हैं।

ऋग्वेद प्रातिशाख्य की विशेषताओं को अंकित करने की विशेष प्रयत्न किया है। आचार्य शौनक ने मन्त्रों के उच्चारण की मौखिक परंपरा को दृष्टि में रखकर ऋग्वेद संहिता के प्रत्येक स्थल का वर्ण, पद, संधि, स्वर, छन्द तथा क्रमपाद इत्यादि अनेक दृष्टियों से सूक्ष्म निरीक्षण किया है। ऋ० प्रा० के विशिष्टताओं को दर्शाने के लिए शौनक ने तीन प्रकार के सूत्रों का निर्माण किया है। (1) सामान्य सूत्र (2) अपवाद सूत्र (3) निपातन सूत्र सर्वप्रथम उन्होंने विस्तृत

---

1. ऋ०प्रा० 1/1, 1/2

2. ऋ०प्रा० एक परिशीलन, डॉ० वीरेन्द्र कुमार वर्मा, भूमिका पृ० 30

3. स्थान प्रश्लेषोपदेशे स्वराणां ह्रस्वादीर्घौ सवर्णो। ऋ०प्रा० 1/55 द्रष्टब्य भूमिका, पृ० 31, डॉ० वीरेन्द्र कुमार वर्मा, ऋ०प्रा० एक परिशीलन।

क्षेत्रवाली विधियों को समान्य सूत्र के रूप में उपनिबद्ध किया है। सामान्य सूत्रों तथा अपवाद सूत्रों के अन्तर्गत न आनेवाले तथा सम्पूर्ण शास्त्र के अपवाद भूत स्थलों को एक–एक करके निपातन के रूप में प्रस्तुत किया गया है। ऋग्वेद संहिता के सभी स्थल इन सूत्रों के अन्तर्गत आ गये हैं।

ऋ० प्रा० की निम्नलिखित तीन विशेषताएँ उल्लेखनीय हैं-

पारिभाषिक शब्दों के महत्त्व को ध्यान में रखते हुए आचार्य शौनक ने मुख्यतः प्रथम पटल में 'समानाक्षर' 'सन्ध्यक्षर' इत्यादि अनेक पारिभाषिक शब्दों का विधान किया है। पारिभाषिक शब्दों की दृष्टि से ऋग्वेद प्रातिशाख्य का अत्यधिक महत्त्व है। प्रातिशाख्यों में प्रयुक्त अधिकतर पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग इस प्रातिशाख्य की पूर्ववर्ती किसी भी ग्रन्थ में अनुपलब्ध है।

अपने सूत्रों के अवबोध के लिए तथा उनके समुचित प्रयोग के लिए आचार्य ने अपने सिद्धान्तों को ग्रन्थ के प्रथम पटल के कतिपय 'परिभाषा–सूत्र' में उपनिबद्ध किया है। इन परिभाषा सूत्रों के सहायता से ही आचार्य शौनक के सूत्रों के रहस्य को समझा जा सकता है। जैसे जिन सूत्रों में यह कहा जायेगा की 'यह वह हो जाता है'' वहाँ अत्यन्त समीपता की दृष्टि से उसका (द्वितीया विभक्ति में निर्दिष्ट का) होना बतलाया गया है। स्वर वर्णो के उच्चारण स्थान और 'प्रश्लिष्ट' सन्धि के उपदेश में जहाँ 'हस्व' स्वर का उल्लेख हो वहाँ हस्व और दीर्घ दोनों सवर्ण स्वर वर्णो को समझना चाहिए। इत्यादि

कवि प्रतिभा प्रदर्शन के कारण कहीं कहीं प्रातिशाख्य का गूढ़ पारिभाषिक विषय और भी अधिक गूढ़ हो गया है। एकादश पटल में इस प्रकार के अनेक स्थल है।

(3) 1869 में ही ऋग्वेद प्रातिशाख्य के केवल सूत्रों का संस्करण कलकत्ता से सत्यव्रत सामश्रमी ने प्रकाशित कराया। (4) उवट भाष्य सहित एक संस्करण

1903 में पं0 युगुल किशोर व्यास तथा उनके शिष्य प्रभुदत्त शर्मा ने बनारस से प्रकाशित कराया। (5) कलकत्ता से हिमव्रत सामकण्ठ द्वारा 1905 में एक संस्करण प्रकाश में आया। (6) ऊपर के संस्करणों तथा हस्तलेखों का मन्थन करके उवटभाष्य के साथ तीन खण्डों में डॉ0 मंगलदेव शास्त्री ने प्रस्तुत किया। (7) काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की संस्कृत शोध ग्रन्थशाला के पंचम पुण्य के रूप में 1970 में डॉ0 वीरेन्द्र कुमार वर्मा द्वारा ऋग्वेद प्रातिशाख्य का एक संस्करण सूत्र सूत्रानुवाद उवटभाष्य–भाष्यानुवाद तथा आवश्यक टिप्पणियों के साथ प्रकाशित हुआ।

चतुरध्यायिका :-

यह अथर्वचरण से सम्बन्धित प्रातिशाख्य है, अतः इसे अथर्ववेद प्रातिशाख्य भी कहा जाता है। इस ग्रन्थ में चार अध्याय हैं। चार अध्याय होने के कारण ही सम्भवतः इसका नाम चतुरध्यायिका रखा गया है। यह मुख्यतः अथर्ववेद की शौनक शाखा से सम्बन्धित है अतः इसे शौनकीय चतुरध्यायिका भी कहा जाता है। चतुरध्यायिका का सूत्रानुवाद तथा व्याख्या सहित सम्पादन अमेरिकन् विद्वान प्रो0 ह्विटनी ने किया। ह्विटनी द्वारा सम्पादित चतुरध्यायिका का आधार रायल पुस्तकालय बर्लिन के चैम्बर कलेक्सन संख्या 143, बेवर संख्या 361 पर प्राप्त चतुरध्यायिका के सूत्रों पर चतुरध्यायी नामक भाष्य भी है किन्तु इस भाष्यकार का नाम निर्देश नहीं है। इस भाष्य के अन्त में लिखा गया है कि "श्रीरस्तु लेखक पाठकयोः शुभं भवतु श्री चण्डिकायै नमः श्री राम सम्वत् 1714 वर्ष ज्येष्ठ शुद्ध 9 दिने समाप्त लिखितम् पुस्तकम्" इससे यह स्पष्ट होता है कि उक्त भाष्य जेष्ठ शुक्ल 9 सम्वत 1714 अर्थात् मई सन् 1656 को लिखकर पूर्ण हुआ।[1]

---

1. द्रष्टब्य ह्विटिनी द्वारा सम्पादित अथर्ववेद प्रातिशाख्य।

चतुरध्यायिका के प्रथम अध्याय में ध्वनियाँ और उनका विभाजन, अभिनिधान, अक्षर और उनकी मात्रा, विकार आगम इत्यादि का विवेचन किया गया है। द्वितीय अध्याय में अन्तिम स्पर्शो (ङ, ञ, ण, न, म) की सन्धि, विसर्जनीय सन्धि, निपातन से प्राप्त होने वाली संन्धियों और ऊष्म वर्णो के विकार इत्यादि विषयक विधान किये गये हैं। तृतीय अध्याय में दीर्घत्व, द्वित्व, स्वरवर्णो का अन्तस्थभाव, स्वर–सन्धि, स्वरित स्वर और उसके प्रकार, णकार भाव इत्यादि विषयक विधान प्रस्तुत हैं। चतुर्थ अध्याय में अवग्रह, प्रगृहय क्रमपाठ और उसके प्रयोजन पर विचार किया गया है।

अथर्ववेद प्रातिशाख्य :-

सूत्ररूप में उपनिबद्ध अथर्ववेद प्रातिशाख्य का सम्बन्ध अथर्ववेद से है। इसके भी दो पाठ मिलते हैं– (1) पं0 विश्वबन्धु शास्त्री द्वारा सम्पादित और (2) डॉ0 सूर्यकान्त द्वारा सम्पादित। अथर्ववेद प्रातिशाख्य का कर्त्ता कौन है– यह कहना कठिन है। क्योंकि दोनों पाठों में प्रवक्ता का नामोल्लेख नहीं है। डॉ0 सूर्यकान्त के अनुसार यह प्रातिशाख्य चतुरध्यायिका से उत्तरवर्ती है। यह प्रातिशाख्य तीन प्रापाठकों में विभक्त है। विषय विवेचन की दृष्टि से यह प्रातिशाख्य अन्य प्रातिशाख्यों की अपेक्षा अत्यन्त सीमित है। इसमें स्वर विषयक विस्तृत विवेचन किया गया है। और सन्धि तथा पदपाठ विषयक भी कुछ विधान है।

ऋक्तन्त्र :-

सूत्र रूप में उपनिबद्ध ऋकतन्त्र, मुख्यतः सामवेद की कौथुम शाखा का प्रातिशाख्य है। इसके प्रवक्ता के विषय में विद्वानों में मतभेद हैं। कतिपय विद्वान् शाकटायन् को इसका कर्त्ता मानते हैं और कुछ औदव्रजि को ऋक्तन्त्र प्रपाठकों में विभक्त हैं। इसमें पॉच प्रापाठक और दो सौ सत्तासी सूत्र हैं। ऋक्तन्त्र में प्रयुक्त संज्ञाओं के सम्बन्ध में इसकी अपनी एक विशेषता है। इसमें तीन प्रकार

की संज्ञायें प्रयुक्त हैं–

1. कुछ संज्ञाये अन्वर्धक हैं यथा अन्तस्थ, ऊष्म आदि।

2. कुछ अपूर्ण संज्ञाये हैं यथा उदात्त के लिए 'उत्', स्वर के लिए 'र' इत्यादि। कुछ रचयिता द्वारा निर्मित हैं यथा पदादि के लिए 'णि' संयोग के लिए 'सण्' इत्यादि।

इस प्रातिशाख्य के प्रथम प्रपाठक में–अक्षर समाम्नाय वर्णोच्चारण–विषयक विधान, द्वितीय प्रपाठक में– वर्णो के उच्चारण स्थान, पारिभाषिक शब्दों का विवेचन, अभिनिधान, अक्षर–विभाजन उच्चारण–काल वृत्ति–निरूपण और उदात्तादि स्वरों का विवेचन, तृतीय प्रपाठक से विभक्ति लोप, संहिता और सन्धि–विषयक विधान तथा चतुर्थ और पंचम प्रपाठक में भी सन्धि विषयक विधान प्रस्तुत किया गया है।

तृतीय खण्ड तैत्तिरीय प्रातिशाख्य

तैत्तिरीय प्रातिशाख्य का महत्व :-

यह कृष्ण यजुः चरण की शाखाओं की संहिताओं का प्रातिशाख्य है। मुख्यतः इसका सम्बन्ध कृष्णयजुः चरण की तैत्तिरीय शाखा की संहिता से है। कृष्ण यजुः चरण की शाखाओं से सम्बन्धित होने के कारण इसे कृष्णयजुः प्रातिशाख्य से छोटा है तथापि इसमें अपने चरण की सभी शाखाओं तथा वाजसनेयि प्रातिशाख्य से छोटा है तथापि इसमें अपने चरण की सभी शाखाओं से सम्बन्धित संहिता–विषयक विधान बड़े विस्तार से प्रस्तुत किये गये है। वर्णोच्चारण–विषयक विधानों का जितना सूक्ष्म वैज्ञानिक एवं प्रामाणिक विवेचन इसमें प्रतिपादित है, उतना किसी अन्य प्रातिशाख्य में नहीं। अतः भाषा वैज्ञानिकों के लिए भी ध्वनि विज्ञान के क्षेत्र में इसका महत्त्वपूर्ण योगदान है।

तैत्तिरीय प्रातिशाख्य का स्वरूप :-

यह प्रातिशाख्य श्लोक रूप में उपनिबद्ध है। इसके कतिपय हस्तलेख सूत्ररूप में उपलब्ध होते हैं, जिनमें सूत्रों की संख्या पॉच सौ सैतालिस है। यह प्रातिशाख्य दो प्रश्नों में विभक्त है। प्रत्येक प्रश्न में बारह–बारह अध्याय हैं। इस प्रकार इस प्रातिशाख्य में चौबीस अध्याय हैं जो इस प्रकार हैं–

प्रथम अध्याय :–

वर्णसामान्य, उपसर्ग, संज्ञाएँ तथा परिभाषा सूत्र उदात्तादि स्वरों का स्वरूप।

द्वितीय अध्याय :–

वर्णोत्पत्ति प्रकार, अकार इत्यादि वर्णो के उच्चारण स्थान तथा करण का विवेचन, अनुनासिक का स्वरूप इत्यादि।

तृतीय अध्याय –

संहितास्थ दीर्घस्वर वर्णों के पदपाठ में हस्व होने का विधान

चतुर्थ अध्याय–

प्रग्रह स्वर वर्ण विषयक विधान।

पंचम अध्याय –

सन्धि विषयक परिभाषासूत्र तथा सन्धि विषयक विधान।

षष्ठ अध्याय–

सन्धि विषयक विधान।

सप्तम अध्याय –

नति (मूर्धन्यभाव) विषयक विधान।

अष्टम से त्रयोदश अध्याय तक –

सन्धि विषयक विधान।

चतुर्दश अध्याय–

द्वित्व सन्धि, द्वित्व के अपवाद तथा स्वरित स्वर विषयक विधान।

पंचदश तथा षोडश अध्याय–

अनुनासिक भाव तथा अनुस्वार गम विषयक विधान

सप्तदश अध्याय–

अनुस्वार में अनुनासिक गुण–विषयक विवेचन तथा उच्चारण प्रकार।

अष्टादश अध्याय–

प्रणव का उच्चारण काल तथा स्वर–विषयक विधान।

एकोनविंश अध्याय–

विक्रम स्वर तथा कम्प–विषयक विधान।

विंश अध्याय–

क्षैप्रादि स्वरितों का स्वरूप तथा उनका उच्चारणं

एकविंश अध्याय–

अक्षर विभाजन, प्रचय का स्वरूप, यम तथा नासिक्य इत्यादि ध्वनियों के स्वरूप का विवेचन।

द्वाविंश अध्याय–

शब्दोत्पत्ति, कतिपय परिभाषाएँ, उदात्तादि, स्वरों का उच्चारण, विराम काल, लघु और गुरू अक्षर।

त्रयोविश अध्याय–

वर्णोत्पत्ति, वर्णो की अवस्थाएँ, सामवेदीय स्वर (यम) आह्वारक स्वर निरूपण तथा उनका उच्चारण।

चतुविंश अध्याय–

संहिता के चार प्रकार और उनका लक्षण, वेद के अध्येता तथा आचार्य की योग्यता।

तैत्तिरीय प्रातिशाख्य में प्रतिपादित विषय :-

तैत्तिरीय प्रातिशाख्य में प्रतिपादित मुख्य विषय ये है– वर्णोच्चारण, अक्षर विभाजन, सन्धि और स्वर। प्रातिशाख्य में विहित विषय वस्तु के सरलता से समझने के लिए कतिपय संज्ञाओं और परिभाषा सूत्रों का भी विधान किया गया है।

तैत्तिरीय प्रातिशाख्य की विशेषताएँ-

(1) यह प्रातिशाख्य यद्यपि ऋक् प्रातिशाख्य तथा वा0 प्र0 से आकार में छोटा है तथापि वर्ण्य विषय की दृष्टि से अत्यधिक महत्त्वपूर्ण तथा प्रामाणिक है। इतने कम सूत्रों में प्रातिशाख्य ने कृष्णयजु: चरण की शाखाओं की संहिताओं के सभी स्थलों को ध्यान में रखकर तत्सम्बन्धी नियमों का सांगोपागं विवेचन किया गया है।

(2) इसमें वर्णो के उच्चारण तथा कतिपय वर्णो के स्वरूप का जितना सूक्ष्म,वैज्ञानिक एवं विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया गया है उतना अन्य प्रतिशाख्यों में नहीं, जिससे भाषा विज्ञान के क्षेत्र में इसकी महान उपयोगिता है।

3. इस प्रतिशाख्य में सूत्रकार ने अपने मत को स्पष्ट करने के लिए बहुत से आचार्यो के मत को प्रस्तुत किया है। अन्य प्रतिशाख्यों में अधिक आचार्यो का मत नहीं दिया गया है।

4. इा प्रतिशाख्य की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें संहिता पाठ,क्रम जटापाठ–इन चार विषयों को स्वीकार करके विधान किये गये हैं। अन्य प्रतिशाख्यों में संहिता पाठ,पादपाठ और क्रम पाठ इन तीन को ही अपना विषय मानकर विधान किये गये हैं।

5. इस प्रतिशाख्य में अन्य प्रतिशाख्यों की भॉति पदपाठ को प्रकृति मानकर

संहिता में होने वाले विकारादि का विधान किया गया है, साथ ही साथ इसमें संहितापाठ को भी प्रकृति मानकर पदपाठ में होने वाले विकारों का विवेचन सम्पूर्ण तृतीय अध्याय में किया गया है।

6. तै0प्रा0 में प्रग्रह संज्ञा का विधान सम्पूर्ण चौथे अध्याय के चौवन सूत्रों में किया गया है,जबकि अन्य प्रतिशाख्यों में थोड़े सूत्रों में ही इसका विधान मिलता है।

7. इसमें एकार और ओकार के परवर्ती आकार के लोप होने का विधान किया गया है।

8. इसमें अनुस्वारागम विषयम नियमों का उल्लेख बड़े ही विस्तार से किया गया है।

9. इस प्रतिशाख्य में एक विशेष प्रकार के विक्रम संज्ञक अनुदात्त स्वर का विधान किया गया है।

10. अंगांगिभाव (अक्षर–विभाजन) विषयक विधान इसमें बड़े व वैज्ञानिक ढंग से प्रस्तुत किये गये हैं।

(11) तैत्तिरीय प्रा0 में चार प्रकार की संहिताओं–पदसंहिता, अक्षर संहिता, वर्ण संहिता, और अंग संहिता का विधान किया गया है तथा उनके लक्षण भी प्रस्तुत किये गये हैं इस प्रकार का विधान अन्य प्रातिशाख्यों में नहीं किया गया है।

चतुर्थ खण्ड वाजसनेयि प्रातिशाख्य

वाजसनेयि प्रातिशाख्य का महत्त्व :-

शुक्ल यजुः चरण (वाजसनेयचरण) की शाखाओं से सम्बन्धित होने के कारण इसे शुक्ल यजुः प्रातिशाख्य अथवा वाजसनेयि प्रातिशाख्य कहा जाता है। मुख्यतः इसका सम्बन्ध शुक्लयजुः चरण की माध्यान्दिन शाखा की संहिता से है।

यह प्रातिशाख्य विस्तार की दृष्टि से ऋ0 प्रा0 के अतिरिक्त सभी प्रातिशाख्यों से बड़ा है। प्राचीनता की दृष्टि से यह ऋ0 प्रा0 तथा तै0 प्रा0 से अर्वाचीन है। इसमें प्रतिपादित विषयों का क्रम यद्यपि सुव्यवस्थित तो नहीं है, तथापि विहित, विषय अत्यन्त वैज्ञानिक, प्रामाणिक तथा महत्त्वपूर्ण हैं। यह प्रातिशाख्य अपने में पूर्ण है तथा कम से कम सूत्रों में वाजसनेय चरण की शाखाओं की संहिताओं से सम्बन्धित नियमों का सांगोपांग विवेचन किया गया है। अतः वाजसनेय चरण की शाखाओं की संहिताओं के बाह्य–स्वरूप के ज्ञान के वा0 प्रा0 का अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है।

वाजसनेयि प्रातिशाख्य का स्वरूप :-

विस्तार की दृष्टि से यह प्रातिशाख्य ऋ0 प्रा0 के अतिरिक्त अन्य प्रातिशाख्यों की अपेक्षा बड़ा है। यह प्रातिशाख्य आठ (8) अध्यायों में विभक्त है। आठवें अध्याय में कतिपय विधान श्लोकबद्ध है। इसके अतिरिक्त अन्य सभी विधान सूत्र रूप में उल्लिखित हैं। मुद्रित इसके सभी संस्करणों में अष्टम अध्याय के सूत्रों की व्यवस्था तथा संख्या में भेद है। अतः वा0 प्र0 के मुद्रित संस्करणों में सूत्रों की संख्या समान नहीं है। इसके सूत्रों के संख्या की न्यूनतम सीमा सात सौ पचीस तथा उच्चतम सीमा सात सौ चालीस है। इसमें प्रतिपादित विषय इस प्रकार है–

प्रथम अध्याय :–

वर्णोत्पत्ति, वेद के अध्ययन की विधि, हस्त प्रचालन द्वारा स्वर प्रदर्शन, संज्ञाएँ, परिभाषाएँ, वर्णोच्चारण में स्थान और करण, अक्षर विभाजन, उदात्तादि स्वर विचार।

द्वितीय अध्याय :–

नाम पदों के स्वर–विषयक विधान।

तृतीय अध्याय :–

सन्धि–विषयक विधान।

चतुर्थ अध्याय :–

सन्धि, पदपाठ, क्रमपाठ और स्वर–विषयक विधान, कतिपय पदों का स्वरूप।

पंचम अध्याय :–

अवग्रह–विषयक विधान।

षष्ठ अध्याय :–

आख्यात और उपसर्ग पदों के स्वर–विषयक विधान तथा कतिपय पदों का स्वरूप।

सप्तम अध्याय :–

परिग्रह–विषयक, विधान।

अष्टम अध्याय :–

वर्णसमाम्नाय, वेदाध्ययन विधि, और उसका फल; वर्णो के देवता, पदो के प्रकार, उनके लक्षण, गोत्र तथा देवता।

वाजसनेयि प्रातिशाख्य में प्रतिपादित विषय :-

वा0 प्र0 में मुख्यतः वर्णसमाम्नाय, वर्णोच्चारण, अक्षर–विभाजन, सन्धि, स्वर, पदपाठ, क्रमपाठ, और वेदाध्ययन विषयक विधान किये गये है। प्रातिशाख्य को सरलता से समझने के लिए कतिपय संज्ञाएँ और परिभाषा सूत्र भी विहित हैं।

वाजसनेयि प्रातिशाख्य की विशेषताएँ :-

(1) यह प्रातिशाख्य यद्यपि विस्तार में ऋ0 प्रा0 से छोटा है तथापि वाजसनेय चरण की शाखाओं की संहिताओं के सभी स्थलों को ध्यान में रखकर तद्विषयक विधानों का सांगोपांग विवेचन करता है।

(2) भाषा विज्ञान के क्षेत्र में इसकी भी उपयोगिता है। इस प्रातिशाख्य में वर्णोच्चारण में क्रियमाण स्थान और करण का निर्देश किया गया है। कतिपय वर्णो के स्वरूप का भी विवेचन प्रस्तुत है।

(3) इस प्रातिशाख्य में भी अपने मत को स्पष्ट करने के लिए अनेक आचार्यो कि मत प्रस्तुत किये गये है।

(4) इस प्रातिशाख्य में यज्ञपरक कतिपय विधान किये गये हैं तथा संहिता के अंशों को उसमें प्रतिपादित यज्ञों के नामों से निर्दिष्ट किया गया है। यथा–समानोऽनश्वमेधे (वा० प्रा० 5/136) इत्यादि।

(5) इस प्रातिशाख्य में हस्त प्रचालन द्वारा स्वरों के प्रदर्शित करने का विधान किया गया है। अन्य प्रातिशाख्यों में ऐसा विधान प्राप्त होता है। यथा वा० प्रा० 3/147 इत्यादि में।

(7) इसमें पदपाठ विषयक आवश्यक विधान किये गये हैं। शुक्लयजुर्वेदीय पदपाठ के लिए वेष्टक–विधान, इतिकरण, अवग्रह तथा संक्रम विषयक विधान ऊहापोह के साथ प्रस्तुत किये गये हैं।

(8) इस प्रातिशाख्य में कतिपय पदों के शुद्ध स्वरूप का भी निर्देश किया गया है तथा नाम आख्यात आदि पदों के स्वर विषयक भी विधान किये गये हैं।

(9) शुक्ल यजुर्वेद के क्रमपाठ सम्बन्धी विधान भी किये गये हैं। द्विपदक्रमवर्ग, त्रिपदक्रमपद, चतुःपदक्रमवर्ग बनाने के नियम, स्थितोपस्थित के स्थल एवं परिग्रह इत्यादि विषयक विधान भी प्रस्तुत किये गये हैं।

वाजसनेयि प्रातिशाख्यकार :

आचार्य कात्यायन :–

आत्म ख्यापन प्राचीन भारतीय आचार्यो का स्वभाव नहीं था। आचार्य कात्यायन भी इसके अपवाद नहीं है। इन उल्लेखों से यह ज्ञात होता है कि

कात्यायन याज्ञवल्क्य के पुत्र थे जो याज्ञवल्क्य की कात्यायनी नामक पत्नी से उत्पन्न हुए थे। ये यज्ञ–विद्या–विलक्षण एवं वेद सूत्रों के रचयिता थे। इनके वररूचि नामक पुत्र भी था।1 ये आचार्य शौनक के शिष्य और आश्वलायन के सतीर्थ थे।2

एक ही कात्यायन ने वाजसनेयि–प्रातिशाख्य तथा पाणिनि के अष्टाध्यायी पर वार्तिक लिखा अथवा दोनों के कर्त्ता अलग–अलग दो कात्यायन थे। इस विषय में विद्वानों में मतभेद है। वाजसनेयि प्रातिशाख्य कार और वार्तिककार कात्यायन को एक मानना समीचीन नहीं प्रतीत होता क्योंकि वाजसनेयि–प्रातिशाख्य अष्टाध्यायी से पहले की रचना है और वार्तिक वाद की। अतः वाजसनेयि–प्रातिशाख्यकार कात्यायन अष्टाध्यायी के कर्त्ता पाणिनि से पूर्ववर्ती हैं तथा वार्तिककार कात्यायन परवर्ती। पाणिनि से पूर्ववर्ती होने के कारण इनका समय 500 ई0 पू0 से पहले क्योंकि पाणिनि 500 ई0 पू0 में हुए थे।

पंचम खण्ड

ऋकप्रातिशाख्य तथा वाजसनेयि प्रातिशाख्य की तुलना :-

ऋक प्रातिशाख्य तथा वाजसनेयि प्रातिशाख्य में साम्य :– ऋक्प्रातिशाख्य ऋग्वेदीय तथा बा0 प्रा0 शुक्लयजुर्वेदीय संहिताओं से सम्बन्धित प्रातिशाख्य है। यद्यपि ऋ0 प्रा0 में विहित विधान ऋग्वेदीय संहिताओं में तथा वा0 प्रा0 में विहित विधान शुक्लयजुर्वेदीय संहिताओं में लागू होते हैं, तथापि दोनों प्रातिशाख्यों में विहित विषय वस्तु की दृष्टि से सामान्यतः साम्य है। जो इस प्रकार है–

(1) दोनों प्रातिशाख्यों में संक्षिप्तता तथा वर्ण्य–विषय को सरलता से समझने के लिए संज्ञाओं तथा परिभाषा सूत्रों का विधान किया गया है।

(2) वर्णोच्चारण में स्थान और करूण कतिपय वर्णो के स्वरूप तथा संयोग–विषयक उच्चारण वैशिष्ट्य इत्यादि का विवेचन दोनों प्रातिशाख्यों में प्रायः समानरूपेण

किया गया है।

(3) अक्षर–विभाजन विषयक विधान दोनों प्रातिशाख्यों में किये गये हैं।

(4) प्रायः दोनों प्रातिशाख्य पदपाठ को प्रकृति मानकर संहितापाठ बनाने का विधान करते हैं। इस सन्दर्भ में पदपाठ के पदों का संहितापाठ में होने वाले विकार, आगम, लोप और प्रकृतिभाव सम्बन्धी विधान दोनों प्रातिशाख्यों में विहित हैं।

(5) दोनों प्रातिशाख्यों के अनुसार दोनों में विहित सन्धि विषयक विधान उनसे सम्बन्धित शाखा के एक श्वॉस से उच्चारित होने वाली संहिता में लागू होते हैं।

(6) स्वरों के भेद तथा उनके उच्चारण का प्रकार, दो स्वरों के मेल से होने वाली स्वरों की सन्धि, संहिता में पूर्ववर्ती तथा परवर्ती स्वर के प्रभाव से पदों के मूल स्वर में होने वाले परिवर्तन और कम्प इत्यादि का विधान दोनों प्रातिशाख्यों में किये गये हैं।

(7) पदपाठ विषयक विधान दोनों प्रातिशाख्यों में विहित हैं।

(8) क्रमपाद विषयक विधान दोनों प्रातिशाख्यों में विहित हैं।

ऋक्प्रातिशाख्य तथा वाजसनेयि प्रातिशाख्य में वैषम्य :-

जैसा कि पहले कहा गया है कि दो अलग–अलग सम्प्रदाय की शाखाओं की संहिताओं से सम्बन्धित होते हुए भी इन दोनों प्रातिशाख्यों में विषयवस्तु की दृष्टि से समानता है। इसका यह अर्थ नहीं है कि जब दोनों प्रातिशाख्यों में सामान्यतः विषयवस्तु की दृष्टि से समान है तब एक ही प्रातिशाख्य के अध्ययन से दोनों प्रातिशाख्यों में विहित अपनी–अपनी शाखाओं की संहिताओं से सम्बन्धित विधानों का ज्ञान हो जायगा, क्योंकि दोनों प्रातिशाख्य अपने–अपने चरण की शाखाओं के संहिता–विषयक विशिष्ट विधान भी प्रस्तुत करते हैं।

इसके साथ ही साथ दोनों प्रातिशाख्यों में अलग–अलग कुछ ऐसे भी विधान हैं, जो एक दूसरे में नहीं उपलब्ध होते हैं।

दोनों प्रातिशाख्यों में अत्यधिक वैषम्य भी है जो निम्नलिखित है–

(१) संज्ञाविषयक वैषम्य :-

वाजसनेयिप्रातिशाख्य में दो प्रकार की संज्ञाओं का विधान किया गया है–

(1) कतिपय संज्ञाएँ अन्वर्थक हैं, जैसे–सन्ध्यक्षर, स्वर इत्यादि। (आ) कतिपय संज्ञाएँ सूत्रकार द्वारा निर्मित हैं किन्तु यह कह सकना बड़ा कठिन है कि ये संज्ञाएँ अन्वर्थक हैं या नहीं। यथा– सिम्, जित् इत्यादि।

(2) कतिपय ऐसी संज्ञाएँ हैं जिनका विधान तथा प्रयोग केवल वाजसनेयि प्रातिशाख्य में ही किया गया है, यथा मुत्, घि इत्यादि, किन्तु कतिपय ऐसी भी संज्ञाएँ है जिनका विधान तथा प्रयोग दोनों प्रातिशाख्यों में किया गया है, यथा सोष्म, अनुनासिक इत्यादि।

(3) दोनों प्रातिशाख्यों में विहित संज्ञाओं के द्वारा निर्दिष्ट अर्थ तथा उनके कथन शैली में अन्तर है, जैसे– वाजसनेयि प्रातिशाख्य में ऊष्म संज्ञा के अन्तर्गत श्, ष्, स् तथा ह् इन चार वर्णो का ही बोध होता है। किन्तु ऋ0 प्रा0 में ऊष्म संज्ञा के अन्तर्गत आठ वर्ण का ही बोध होता है।

(२) वर्णसमाम्नाय विषयक वैषम्य :-

ऋक् प्रातिशाख्य के प्रारम्भिक श्लोकों (वर्गद्वय) में वर्णों के विषय में और कुछ नहीं कहा गया है। ऋ0 प्रा0 में प्रातिशाख्यकार द्वारा वर्णसमाम्नाय के वर्णो का उपदेश किया गया है। भाष्यकारों ने संज्ञा सूत्रों के आधार पर इस प्रातिशाख्य में ग्रहण किये गये वर्णो का निर्देश किया है। किन्तु वा0 प्रा0 से प्रातिशाख्यकार ने स्वयं बड़े विस्तार के साथ वर्णसमाम्नाय का प्रवचन किया है।

(2) ऋ0 प्रा0 के अनुसार स्वरवर्णो को इन दो भागों में विभाजित किया जा

सकता है।–

(अ)सामानाक्षर तथा (आ)अन्य स्वर किन्तु वा0प्रा0 में स्वर वर्णों को मूल स्वर तथा सन्ध्यक्षर इन दो भागों से विभाजित किया गया है।

(3) ऋ0 प्रा0 में व्यन्जन वर्णो को स्पर्श,अन्तरण,उष्म, अनुस्वार विसर्जनीय तथा यम इस प्रकार विभाजित किया गया है, किन्तु वा0प्रा0 में जिह्वामूलीय, उपध्मानीय, अनुस्वार विसर्जनीय, नासिक्य तथा यम के रूप में किया गया है। इन वर्णो का ग्रहणअयोगवाह के अन्तर्गत किया गया है। वा0प्र0 के वर्ण–समाम्नाय में ळ तथा स्वर भक्ति का ग्रहण नहीं किया गया है।

(4) वा0प्र0 में वर्णो के देवताओं का भी निर्देश किया गया है, किन्तु ऋ0 प्रा0 में नहीं।

3. वर्णोच्चारण–विषयक वैषक्य –(1) ऋ0 प्रा0 में वर्णो के उच्चारण विषयक नियमों का अत्यन्त सूक्ष्म तथा ध्वनि वैज्ञानिक विवेचन प्रस्तुत किया गया है। ऋ0 प्रा0 में 'अघोष' और 'सघोष' वर्णो के सूक्ष्म अन्तर को आचार्य शौनक ने बतलाया है। 'अवर्ण' के उच्चारण में ओष्ठ तथा हनु न अधिक खुले रहते हैं और न अधिक बन्द, इत्यादि। किन्तु वा0 प्रा0 में केवल वर्णो के उच्चारण स्थान तथा करण का ही निर्देश किया गया है।

(2) ऋ0 प्रा0 में वर्णोच्चारण के समय कण्ठ–विवर की संवृत्त, विवृत्त, और मध य–इन तीन अवस्थाओं तथा इन तीनों अवस्थाओं से वायु के विकार के रूप में प्राप्त होने वाले क्रमशः नाद ,श्वास और हकार संज्ञक द्रव्यों का जो वर्णोच्चार में अनुप्रदान का कार्य करते हैं। अत्यन्त सूक्ष्म तथा ध्वनि वैज्ञानिक विवेचन प्रस्तुत किया गया है,किन्तु वा0प्रा0 इस विषय में मौन है।

3. ऋ0 प्रा0 में वर्णो के उच्चारण स्थानों ऋ का विधान किया गया है परन्तु किन– किन वर्णो का कौन कारण होता है इसका विधान नहीं किया गया

है। मुख्यतः स्थान के आधार पर वर्णो के 'कण्ठय' आदि संज्ञायें प्रदान की गई है।

4. ऋ0प्रा0 में कतिपय वर्णो के स्वरूप के विषय में विशेष विचार किया गया है। ऋ और ॠ का स्वरूप अनुस्वार का स्वरूप आदि। ऋ0 प्रा0 में यह नहीं बताया गया है कि ऋ ओ और ॠ में व्यन्जात्मक तत्त्व(र्) का कितना परिमाण है और स्वरात्मक तत्त्व का कितना परिमाण है। यह भी नहीं बतलाया गया है कि स्वरात्मक तत्त्वों का क्या स्वरूप है किन्तु ऋ तथा ऌ को स्वरात्मक तत्त्व के स्वरूप के विषय में वा0प्रा0 का कहना है कि ॠ और ऌ में र् और ल् अ के साथ एक में संश्लिष्ट है।1

इत्यादि वाजसनेयि प्रा0 में केवल वर्णो के उच्चारण स्थान तथा कारण के नाम का निर्देश ही किया गया है।

5. ऋ0 प्रा0 में उपांशु, ध्वान, इत्यादि वाणी की सात अवस्थाओं का विवेचन किया गया है और इन अवस्था में होने वाले उच्चारण के विधि विषयक विधान भी प्रस्तुत किये गये हैं किन्तु वा0 प्रा0 इस सन्दर्भ में मौन है।

6. ऋ0 प्रा0 में अलग–अलग वर्णो के श्रूयमाण स्वरूप के अन्तर होने के कारण का बहुत ध्वनि वैज्ञानिक आधार प्रस्तुत किया गया है, किन्तु वा0प्रा0 में नहीं ।

(४) अक्षर विभाजन-विषयक वैषम्य -

यद्यपि अक्षर विभाजन विषयक विधान दोनो प्रतिशाख्यों में किये गये तथापि जितना अधिक विस्तृत विवेचन ऋ0 प्रा0 में किया गया है, उतना वा0 प्रा0 से नहीं। ऋ0 प्रा0 में पूर्ववर्ती तथा परवर्ती दोनो स्वर वर्णो के अंङ्गभूत व्यञ्जनों के विषय में विधान किया गया है, किन्तु वा0प्रा0 में केवल पूर्ववर्ती स्वर वर्णो के अङ्गभूत व्यंज्जनों का

5—सन्धि विषयक वैषम्यः— दोनो प्रतिशाख्यों में प्रतिपादित सन्धियों में साम्य के साथ—साथ उनके कथन शैली तथा सन्धिगत वर्ण विषय में अत्यधिक वैषम्य भी है जो इस प्रकार है

1. दोनो प्रातिशाख्य पदपाठ को प्रकृति मानकर संहिता करने का विधान करते हैं, किन्तु संहिता का लक्षण केवल वा0 प्रा0 में दिया गया है।

2. संहिता कितने प्रकार की होती है? इस विषय में ऋ0 प्रा0 के सूत्रकार मौन हैं किन्तु भाष्यकार उवट ने संहिता के दो प्रकार बतलायें हैं— आर्ष संहिता— क्रमसंहिता। वा0 प्रा0 में संहिता का इस प्रकार का कोई विभाजन नहीं है। किन्तु भाष्यकार स्वर में चार प्रकार की सन्धियाँ बतलाई है।

3. दोनों प्रातिशाख्यों में यह विधान किया गया है कि सन्धि पदान्त और पदादि में होती है, इसलिये सन्धि को जानने के लिए पदान्तीय वर्णो का ज्ञान आवश्यक समझ कर दोनों प्रातिशाख्यों में पदान्तीय वर्णो का भी उल्लेख किया गया है। वा0 प्रा0 में पदों के आदि में आने वाले वर्णो का विधान भी नहीं किया गया है। किन्तु ऋ0 प्रा0 में पदों के आदि में आने वाले वर्णो का विधान भी किया गया है।

4. वा0 प्रा0 में विह्त सन्धि—विषयक विधानों को 'हि' सूत्र द्वारा तीन विभागों में विभाजित किया गया है, ऋ0 प्रा0 में सन्धि विषयक विधानों का इस प्रकार विभाजन नहीं है।

5. वा0 प्रा0 में पदपाठ को प्रकृति मानकर पदपाठ के पदान्तीय ह्स्व स्वरों को संहिता में दीर्घ होने का विधान किया गया है। ऋ0 प्रा0 में इसके ठीक विपरीत संहिता पाठ को प्रकृति मानकर संहिता के दीर्घ स्वरों के पदपाठ में ह्स्व होने का विधान करता है।

7. ऋ0 प्रा0 में 'एकार' तथा ' अकार के परवर्ती आकार के लुप्त होने का

विधान किया गया है, किन्तु वा0प्रा0 में उक्त अकार के पूर्वरूप होने का।1

8. ऋ0 प्रा0 में अनुस्वारागम का विधान बड़े ही विस्तार से दो अध्यायों में किया गया है। वा0 प्रा0 में इस प्रकार का विवेचन नहीं है।

(६) स्वर विषयक वैषम्य :

(1) वा0 प्रा0 में उच्चारण द्वारा स्वरों के प्रदर्शन के साथ – साथ हस्त प्रचालन द्वारा भी स्वरों को प्रदर्शित करने का विधान किया गया है। किन्तु ऋ0 प्रा0 में हस्त प्रचालन द्वारा स्वरों को प्रदर्शित करने का विधान नहीं किया गया है।

2. वा0 प्रा0 में सात स्वरों की संख्या का निर्देश किया गया है; किन्तु ऋ0 प्रा0 में नहीं ।

3. ऋ0 प्रा0 में स्वरित के स्वीकृत आठ भेदों –वैवृत, तैरोऽवग्रह अपूर्व, तैरोव्यज्जन, क्षैप्र, अभिनिहित तथा प्रलिष्ट को स्वीकार किया गया है, किन्तु वा0 प्रा0 में स्वरित के स्वीकृत आठ भेद हैं जात्य, अभिनिहित, क्षैप्र, प्रश्लिष्ट, तैरोव्यञ्जन, विरोविराम पादवृत्त तथा ताथाभाष्य बतलाये गये है।

4–ऋ0 प्रा0 में प्रचय संज्ञक स्वर का उल्लेख हुआ है, किन्तु वा0प्रा0 में नहीं।

6–तै0 प्रा0 कुष्ट इत्यादि सामवेदिय स्वर (यम) का बड़े विस्तार से विवेचन किया गया है,किन्तु वा0प्रा0 में केवल ''सात'' इस संख्या द्वारा निर्देष कर दिया गया है।

(७) पद पाठ विषयक वैषम्य :-

1. ऋ0 प्रा0 में संहिता के प्रकृति मानकर संहिता के दीर्घ स्वरों के पद्पाठ में ह्स्व होने का विधान किया गया है, किन्तु वा0 प्रा0 पदपाठ को प्रकृतिमान कर पद्पाठ के ह्स्व स्वरों के संहिता पाठ में दीर्घ होने का विधान करता है।

2. वा0प्रा0 में पद पाठ में होने वाले स्थितो परस्थित,अवग्रह संङक्रम तथा स्वर विषयक भी विधान किये गये हैं, किन्तु ऋ0 प्रा0 में नहीं।

3. वा0 प्रा0 में पद का लक्षण पद के प्रकार ,पदों के गोत्र अथवा ऋषि तथा कतिपय पदों के स्वरूप पर विचार किया गया है क़िन्तु ऋ0 प्रा0 इस संदर्भ में मौन है।

8. क्रमपाठ– विषयक वैषम्य – वा0प्रा0 में क्रमपाठ के प्रायोजन तथा क्रमपाठ बनाने के नियमों स्थितोपस्थिति,इति के साथ सन्धि का विवेचन किया गया है,किन्तु ऋ0 प्रा0 में क्रमपाठ–विषयक विधानों को बड़े ही विस्तार के साथ विवेचित किया गया है।

9 वेदाध्ययन विषयक वैषम्य – दोनो प्रतिशाख्यों के वेदाध्ययन विषयक विधानो को देखने से यह ज्ञात होता है कि इस सन्दर्भ में दोनो प्रतिशाख्यों के विधान एक दूसरे से पूरक है। ऋ0 प्रा0 में जो वेद के अध्येता तथा अध्यापयिता की योग्यता का विधान किया गया है वह वा0 प्रा0 में नहीं है। वा0 प्रा0 में अध्येता के लिए आवश्यक नियम 'ओम्' और 'अथ' के प्रयोग विषयक विधान अध्ययन की विधि तथा अध्ययन के फल विषयक जो विधान किये गये है, ऋ0 प्रा0 में 'अथ' के प्रयोग विषयक विधान का विवेचन नहीं किया गया है।

प्रथम अध्याय
संज्ञा-परिभाषा-प्रकरण

प्रथम अध्याय

संज्ञा-परिभाषा-प्रकरण

प्रातिशाख्य ग्रन्थों के सम्यक् अवबोध के लिए उसमें प्रयुक्त पारिभाषिक संज्ञाओं तथा परिभाषा सूत्रों का ज्ञान अत्यावश्यक है, क्योंकि उनकी सहायता से आचार्यों ने अत्यन्त संक्षेप में विपुल अर्थ को अभिव्यक्त करने का प्रयत्न किया है। विपुल अर्थ को प्रकट करने के लिए ग्रन्थ में एक स्थल पर पारिभाषिक संज्ञा का विधान कर दिया जाता है। पुनः ग्रन्थ में जहाँ जहाँ भी उस अर्थ को द्योतित करना अभिष्ट होता है, वहाँ—वहाँ उस संज्ञा का प्रयोग कर दिया जाता है। जो संज्ञा जिस अर्थ विशेष का द्योतक होती है, उस विशेष अर्थ की प्रतीति उस संज्ञा के कथन से हो जाती है। संज्ञा सूत्रों की भाँति ही परिभाषा सूत्रों का विधान होता है। इसके द्वारा सूत्रकार ग्रन्थ में विहित विधान तथा उनके द्वारा होने वाले कार्यों से सम्बन्धित एक प्रणाली निश्चित करता है, जिससे ग्रन्थ के सम्पूर्ण विधानों एवं सूत्रों को सरलता से समझा जा सकता है। परिभाषा सूत्रों का प्रयोग प्रातिशाख्यों में विहित विधानों की भाषा, क्षेत्र तथा परस्पर विरोध के निर्णय में सहायक होता है, अर्थात् परिभाषाएँ विधानों के बाह्य स्वरूप को स्पष्ट करती हैं।

ऋ0प्रा0 तथा वा0प्रा0 दोनों में पारिभाषिक संज्ञाओं तथा परिभाषा सूत्रों का विधान किया गया है। उनका तुलनात्मक अध्ययन यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

संज्ञाएँ :

समानाक्षर (सिम्) :-

ऋ0प्रा0 और वा0प्रा0 दोनों में समानाक्षर संज्ञा का विधान किया गया है किन्तु ऋ0प्रा0 में 'समानाक्षर' नाम से परिचित संज्ञा को वा0प्रा0 में 'सिम्' नाम से अभिहित किया गया है। दोनों प्रातिशाख्यों के अनुसार आदि से लेकर वर्णमाला

के आठ अक्षर 'समानाक्षर' संज्ञक[1] (सिम् संज्ञक)[2] होते हैं। ध्यातब्य है कि ई3 एवं लृ में दो वर्ण स्वरूप से समानाक्षर हैं। किन्तु ऋ0प्रा0 में इनकी गणना समानाक्षरों में नहीं की गई है।

संध्यक्षर संज्ञा :-

ऋ0प्रा0, वा0प्रा0 और पाणिनीय शिक्षा (पा0शि0) तीनों में समानाक्षर का विधान है। 'ऋ0प्रा0'[3] तथा 'वा0प्रा0'[4] के अनुसार समानाक्षरों से अव्यवहित (बाद में आने वाले) चार अक्षर संध्यक्षर–संज्ञक होते हैं। अर्थात् अकार की इकार, उकार, एकार और ओकार के साथ संधि होने पर जो 'अक्षर' निष्पन्न होते हैं वे संध्यक्षर कहे जाते हैं। ए, ओ, ऐ, औ ये संध्यक्षर हैं। ध्यातव्य है कि ऋ0प्रा0 में सूत्रकार ने 'उत्तराणि' पद का प्रयोग करके संध्यक्षरों में लृ और लृ इन दो स्वर वर्णों का प्रतिषेध किया है। ऋ0प्रा0 में संध्यक्षरों का क्रम ए–ऐ–ओ–औ है।.इनमें ए ओ विषम ऐ औ सम हैं। भाष्यकार उवट के अनुसार संध्यक्षरों में अकार पूर्ववर्ती आधा भाग है इकार परवर्ती आधा भाग है, जो ए पहले और ऐ तीसरे में होता है। दूसरे में (ओ) और चौथे में (औ) उत्तरवर्ती आधा भाग उकार होता है। परन्तु 'पाणिनीयशिक्षा' में बताये गये अक्षर के अनुसार विचार करने पर 'अ' संवृत है, उसकी आधी मात्रा ए–ओ में होगी और शेष ड़ेढ़ मात्रा इ–उ की। ऐ–ओ में 'आ' इस दो मात्राओं वाले विवृत अकार को आधा करने पर एक मात्रा, तथा परवर्ती एक मात्रा इ–उ की होगी। इस प्रकार निम्न रुप सिद्ध होता है–

"अ 1/2 + इ। 1/2 =ए

अ 1/2 + उ।1/2 =ओ

---

1. *अष्टौसमानाक्षराण्यादितः, ऋ0प्रा0, संज्ञाप्रकरण, 1/1*
2. *समादितौऽष्टौ स्वराणाम्, वा0प्रा0 संज्ञाप्रकरण, 1/44*
3. *ततश्चत्वारि संध्यक्षराज्युत्तराणि।' ऋ0प्रा0, संज्ञा प्रकरण 1/2*
4. *एतदुत्तरे स्वरसमाप्तिपर्यन्तावर्णाः "संध्यक्षर' संज्ञकःस्युः। वा0प्रा0 8*

आ 1/2 + ई =ऐ

आ 1/2 + ऊ =औ"[1]

स्वरसंज्ञा-

ऋ. प्रा. एवं वाजसनेयि प्रा. दोनों में स्वरसंज्ञा का विधान किया गया है। परन्तु इनके संख्या के विषय में दोनों में वैमत्य है।वा. प्रा. में तेईस[2] (23) स्वर माने गये है–यथा– अ, आ, आ3, इ, ई, ई3, उ, ऊ, ऊ3, ऋ, ॠ, ॠ3, ऌ, ॡ, ॡ3, ए, ए3, ओ, ओ3, ऐ, ऐ3, औ, औ3, इन में से नौ प्लुत स्वर हैं (आ3, ई3, ऊ3, ऋ3, ॡ3, ए3, ओ3, ऐ3, औ3,) किन्तु ऋ. प्रा. में चौदह[3] माने गये है। यथा–अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ऋ, ए, ऐ, ओ, औ, ई, ई3, और ऌ।इनमें से केवल एक (ई3) ही प्लुत स्वर है। ऋ. प्रा. में इन स्वरों को समानाक्षर एवं संध्यक्षर इस प्रकार दो श्रेणियों में विभक्त किया गया है। पा. शि. में भी स्वर की संख्या को ईक्कीस (21) बतलाया गया है।[4] इससे यह स्पष्ट होता है कि वा. प्रा. में स्वर वर्णों के अन्तर्गत उपदिष्ट ऊ, उ, ऋ3, ए3, ओ, और औ3 का ग्रहण ऋ. प्रा. में नहीं किया गया है।

भावि-

वा. प्रा. के अनुसार कण्ठ्य से अन्य भावि संज्ञक होते है। कण्ठ्य स्वर 'अ' तथा 'आ' है। इन अ तथा आ से व्यतिरिक्त स्वर इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ऋ, ए, ऐ ओ तथा औ भावि संज्ञक हैं। ऋ0प्रा0 में इस संज्ञा का विधान नहीं किया गया है।[5]

---

1. *पाणिनीय शिक्षा, भाष्यकृत – अवस्थी बच्चूलाल ज्ञानोपाह्व, पृ0 30 एवं द्रष्टब्य पाणिनीय सूत्र 1,1,47, 8–2, 106*
2. *वा0प्रा0 8/6, द्रष्टब्य ऋ0प्रा0 एक परिशीलन डॉ0 वीरेन्द्र कुमार वर्मा, पृ08*
3. *ऋ0प्रा0 1/1, 1/2, 1/30, 31ए 13/35*
4. *स्वरा विंशतिरेकश्च .... पाणिनीय शिक्षा 1/14*
5. *अकण्ठयौ भावी (वा0 1/46)*

ह्रस्व-

वा. प्रा. में इस संज्ञा का विधान करते हुए कहा गया है कि अकार के परिमाण (मात्रा) के बराबर उच्चारण काल वाला स्वर ह्रस्व संज्ञक होता है।[1] इस तरह वा. प्रा. के अनुसार अ, इ, उ, ऋ, तथा लृ इन पाँच वर्णों की ही ह्रस्व संज्ञा कही गयी है। ऋ, प्रा. में अ, ऋ, इ, उ, इन चार वर्णों को ह्रस्व संज्ञक कहा गया है– "ओजा ह्रस्वाः सप्तमान्ता स्वराणाम्" ।[2] इन चार वर्णों के अतिरिक्त 'लृ' वर्ण को भी ह्रस्व माना गया है। जैसा की ऋ. प्रा. में उल्लिखित है कि जब ऋ का रेफ लकार हो जाता है तो ऋ ही लृ हो जाता है। इससे ज्ञात होता है कि ऋ के स्थान पर आने वाला लृ स्वरुप की दृष्टि से ऋ के सदृश ही होगा। अतः ऋ ह्रस्व होने के कारण लृ को भी ह्रस्व माना जायेगा।

दीर्घ-

वा. प्रा. वर्णसमाम्नाय में लृ का भी ग्रहण किया गया है, जिसका उच्चारण काल ह्रस्व (लृ) का दुगुना है। अतः इसके अनुसार 'लृ' की भी दीर्घ संज्ञा प्राप्त होती है। ऋ. प्रा. के अनुसार "ह्रस्व से अन्य स्वरवर्ण दीर्घ संज्ञक है,[3] अर्थात् आ, ऋ, ई, ऊ, ए, ओ, ऐ, और औ ये दीर्घ संज्ञक वर्ण है। स्मरणीय है कि ऋग्वेद में प्रयुक्तवर्णों का ही ऋ. प्रा. में ग्रहण किया गया है। "ऋ. प्रा. में कही भी लृ का साक्षात् ग्रहण नहीं किया गया है[4] "अर्थात् अन्य स्वरों की भाँति इसकी स्वर संज्ञा का विधान नहीं किया गया है। अतः ऋ. प्रा. में लृ को दीर्घ संज्ञक वर्ण के अर्न्तगत नही माना गया है, किन्तु वा. प्रा. में ऐसा माना गया है।

---

1. अमात्र स्वरौ ह्रस्वः (वा0प्रा0 1/55)
2. ऋ0प्रा0 1/17
3. अन्ये दीर्घाः। ऋ0प्रा0 1/18
4. डॉ0 वीरेन्द्र कुमार वर्मा, ऋ0प्रा0 एक परिशीलन, ध्वनि प्रकरण, पृ0 11

प्लुत-

दोनों प्रातिशाख्यों के अनुसार ह्रस्व से तिगुने उच्चारण काल वाला स्वर प्लुत संज्ञक होता है।[1] इस प्रकार ह्रस्व से तिगुने उच्चारण काल वाले स्वरों आ3, ई3 तथा ऊ3 की प्लुत संज्ञा होती हैं। इसके अतिरिक्त वा. प्रा. के वर्णसमाम्नाय में ऋ3, लृ3, ए3, ऐ3 ओ3 और औ3 भी उपदिष्ट हैं, जिनका उच्चारण काल ह्रस्व से तिगुना है। अतः ये भी प्लुत संज्ञक हैं। इससे स्पष्ट है कि वा. प्रा. में नौ (9) प्लुत संज्ञक वर्ण माने गये है जबकि ऋ. प्रा. में केवल एक ही प्लुत संज्ञक स्वर माना गया है। यथा–ई3। ध्यातव्य है कि ऋग्वेद में प्लुत के उच्चारण में लगने वाले समय (मात्रा) तथा उदाहरणों को बतलाने के साथ–साथ प्लुत के स्वर होने का भी स्पष्टोंल्लेख किया गया है।"[2]

अणु-

वा. प्रा. में 'अणु' संज्ञा का विधान करते हुए कहा गया है कि उस व्यन्जन के उच्चारण काल का आधा–काल अणु–संज्ञक होता है।[3] व्यन्जन का उच्चारण काल पूर्ववर्ती सूत्र 1/58 में आधी मात्रा बतलाया गया है। अतः अणु संज्ञा का तात्पर्य आधी मात्रा काल के आधे समय=एक चौथाई मात्रा काल से है, अर्थात् एक चौथाई मात्रा काल की अणु संज्ञा होती है। ऋ. प्रा. में इस संज्ञा का विधान नहीं किया गया है।

परमाणु-

वा. प्रा. में इस संज्ञा का विधान करते हुए कहा गया है कि 'अणु' का

---

1. *प्लुतस्त्रिः। वा०प्रा० 1/58, ऋ०प्रा० 1/30*
2. *तिस्रः प्लुत उच्यते स्वरः।*
   अधः स्विदासी3 दुपरि स्विदासी3
   दर्ये प्लुतिर्भीरवि विन्दर्ती3 त्रिः। ऋग्वेद 1/31–31
3. *तदर्धमणु (वा०प्रा० 1/60)*

आधा भाग परमाणु कहा जाता है। एक चौथाई मात्रा काल की अणु संज्ञा विहित है। एक चौथाई मात्रा काल का आधा समय अर्थात् एक आठवाँ मात्रा काल परमाणु संज्ञक होता है। ऋ. प्रा. में परमाणु संज्ञा का विधान नही किया गया है।
उदात्त–वा. प्रा0 में उदात्त संज्ञा का विधान करते हुए कहा गया है कि उच्चध्वनि से उच्चारित होने वाला अक्षर 'उदात्त' संज्ञक होता है।1 यथा अग्ना3 इ (वा. प्रा. 8/10) ऋ0प्रा0 में संज्ञाप्रकरण के अर्न्तगत इस संज्ञा का विधान नहीं किया गया है। स्वरपटल में इस पर विचार किया गया है।

अनुदात्त-

वा. प्रा. प्रातिशााख्यों के अनुसार नीची ध्वनि से उच्चारित अक्षर 'अनुदात्त' संज्ञक होता है।2 आर्षेय ऋषीणाम् (वा. प्रा. 21/61)। ऋ. प्रा. में (संज्ञा प्रकरण के अन्तर्गत)। इस संज्ञा का विधान नहीं किया गया है।

स्वरित–वा. प्रा. के अनुसार इन दोनों अर्थात् उदात्त और अनुदात्त के गुण से युक्त स्वर स्वरित संज्ञक होता है। यथा– ऊर्ज्जे त्वां (वा. प्रा. 1/1) ऋ. प्रा. में (संज्ञा प्रकरण के अर्न्तगत) इस संज्ञा का विधान नही किया गया है। स्वरपटल में इस पर विचार है।

व्यंजन-

वा. प्रा. में व्यन्जन संज्ञा का विधान करते हुए कहा गया है कि रुकार से प्रारम्भ होने वाले वर्ण 'व्यञ्जन' संज्ञक हैं। परन्तु इससे यह ज्ञात नही हो पाता है कि रुकार से प्रारम्भ होने वाले सभी वर्ण व्यञ्जन हैं या कुछ वर्ण व्यञ्जन नही भी है। इस बात को स्पष्ट करते हुए भाष्यकार उवट तथा अनन्त ने रुकार से लेकर अनुस्वार पर्यन्त वर्णों को व्यन्जन माना है। इन दोनों भाष्यकारों का व्यन्जन संज्ञा सम्बन्धी विचार सङ्गत नही प्रतीत होता है, क्योकि वा. प्रा. 8/44 में कात्यायन ने व्यञ्जन वर्णों की संख्या बयालिस (42) बतलाया है। जबकि दोनों

भाष्यकारों के अनुसार रुकार से लेकर अनुस्वार पर्यन्त व्यन्जन वर्णों की संख्या इक्कीस (21) ही हो पाती है। वा. प्रा. के दोनों सूत्रों 1/47, तथा 8/44 से यह स्पष्ट होता है कि रुकार से लेकर बयालिस (42) वर्ण व्यञ्जन संज्ञक हैं। ऋ. प्रा. के अनुसार स्वरों तथा 'अनुस्वार' के अतिरिक्त सभी शेष वर्ण 'व्यन्जन' हैं। अर्थात् "क, ख ग, ध, ङ, च, छ, ज, झ, ञ, ट, ठ, ड,. ढ, ण, त, थ, द, ध, न, प, फ, ग, भ, म, य, र, ल, व, ह, श, ष, (क. से म तक) = 25 स, अः, क , प ह, श, ष, स अः, क, प = 7 ये छत्तीस वर्ण व्यञ्जन है, इन व्यन्जनों को स्पर्श (य,र,ल,व) = 4 अन्तःस्थ तथा ऊष्मन भेद से तीन श्रेणियों में विभक्त किया गया है।

इससे स्पष्ट है कि ऋ. प्रा. एवं वा. प्रा. में व्यन्जनों की संख्या को लेकर वैमत्य है। ऋ. प्रा. में जहाँ 36 व्यन्जनों का उल्लेख है वहीं वा प्रा. में 42 व्यन्जनों का उल्लेख है। ऋ. प्रा. में अनुस्वार, 'नासिक्य' एवं 'यमों' को व्यञ्जनों के अन्तर्गत नही माना गया है।

स्पर्श-

वा. प्रा. में वर्णसमाम्नाय के अन्तर्गत क् से म् पर्यन्त व्यन्जनों का उपदेश करके यह कहा गया है कि ये स्पर्श हैं। (ऋ. प्रा. में भी स्पर्श का विधान करते हुए कहा गया है–"व्यन्जनों में आदि वाले पच्चीस वर्ण स्पर्श है।) इससे स्पष्ट होता है कि स्पर्श संज्ञा के विषय मे दोनों प्रातिशाख्यों का मत समान है।

वर्ग-

वा. प्रा. में 'वर्ग' संज्ञा का विधान तो नही किया गया है, किन्तु 'वर्ण समाम्नाय' में स्पर्श वर्णों को क्रमशः पाँच–पाँच वर्णों के वर्गों में बाँट कर उपदिष्ट किया गया है। यथा– क् ख् घ् ङ् यह क वर्ग है। 1 इत्यादि। किन्तु ऋ. प्रा. में 'वर्ग' संज्ञा का विधान करते हुए कहा गया है कि ''उन स्पर्शों के पाँच–पाँच 'वर्ग'

है, अर्थात् प्रति वर्ग में पाँच–पाँच वर्ण होते हैं और प्रत्येक वर्ग के वर्णों का उच्चारण स्थान भिन्न होता है। यथा कवर्ग के वर्णों का उच्चारण स्थान 'कण्ठ्य' है, चवर्ग के 'तालव्य' है, टवर्ग के 'मूर्धन्य है, तवर्ग के 'दन्त्य' है और पवर्ग 'ओष्ठ्य' है।

प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ तथा उत्तम-

वा. प्रा. में यह विधान परिभाषा द्वारा किया गया है। इसके अनुसार स्पर्श वर्गों में संख्यओं को जानना चाहिए। तात्पर्य यह है कि यदि प्रातिशाख्य में कही प्रथम इस संख्या का प्रयोग हुआ हो तो उससे स्पर्श वर्गो के पहले स्पर्श.... क्,च्,ट्,त्प्, को समझना चाहिए।इसी प्रकार द्वितीय से वर्गो के दूसरे, तृतीय से वर्गो के तीसरे, चतुर्थ से वर्गों के चौथे तथा पन्चम से वर्गो के अन्तिम स्पर्शों को समझना चाहिए। यथा– पंचम बाद में होने पर अपञ्चम् स्पर्श अपने वर्ग का पञ्चम् हो जाता है।4 यहाॅ पंचम् से वर्गों के अन्तिम स्पर्श ङ्, ञ्, ण्, न् एवं म् को समझना चाहिए। इस विवेचन से स्पष्ट है कि दोनों प्रातिशाख्यों में प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ तथा पंचम संज्ञा का समान रूप से उल्लेख किया गया है। ऋ0 प्रा0 में यह उल्लेख है कि ''उस 'अनुनासिक' से अर्थात् ङ्, ञ्, ण्, न् तथा म्'' से अन्य 'स्पर्श' को पद के अवसान में स्थित होने पर गार्ग्य वर्ग का तृतीय स्पर्श मानते है।

सोष्म :-

वा0प्रा0 में इस संज्ञा का विधान करते हुए कहा गया है कि वर्गों के द्वितीय तथा चतुर्थ स्पर्श सोष्म संज्ञक होते हैं।1 अर्थात् ख्, छ्, ठ्, थ्, फ (द्वितीय स्पर्श) तथा घ्, झ्, ढ्, ध्, भ् (चतुर्थ स्पर्श) इनकी सोष्म संज्ञा होती है। ऋ0प्रा0 में विधान किया गया है कि 'प्रत्येक वर्ग में सम (द्वितीय और चतुर्थ) वर्ण सोष्म संज्ञक है।'' अर्थात् ख्, छ्, ठ्, थ्, फ् और य्, झ्, ढ्, ध्, भ् ये वर्ण 'सोष्म' संज्ञक हैं।

उल्लेखनीय है कि द्वितीय वर्णों का मूल कारण 'श्वास' है और ये 'अघोष' होते हैं। चतुर्थ वर्णों का मूल कारण 'श्वास' और 'नाद' दोनो हैं और ये 'सघोष' कहे जाते हैं। सभी सोष्म–वर्णों का 'आभ्यन्तरप्रयत्न' अस्थित स्पृष्ट माना गया है। डॉ0 वीरेन्द्र कुमार वर्मा के अनुसार 'सोष्म' वर्ण ह्–युक्त होते हैं। यथा – ख = क् + ह्, घ = ग् + ह्। 'उष्मन्' का अर्थ हकार भी लिया जा सकता है और इस प्रकार 'सोष्मन्' का अर्थ हुआ 'ह' युक्त वर्ण।3

अन्तस्थ :-

वा0प्रा0 में वर्णसमाम्नाय के अन्तर्गत ही अन्तस्थ वर्णों का उपदेश करते हुए कहा गया है कि ''अब अन्तस्थ वर्णों को कहा जा रहा है – य्, र्, ल्, व् 3 ऋ0 प्रा0 में भी अन्तस्थ संज्ञा का विधान करते हुए कहा गया है कि ''उन स्पर्श वर्णों के बाद वाले चार वर्ण अन्तःस्था कहलाते हैं।4 इस प्रकार यह ज्ञात होता है कि दोनों प्रातिशाख्यों में अन्तस्थ संज्ञा का विधान समान रूप से किया गया है।5

ऊष्म :-

वा0प्रा0 में वर्णसमाम्नाय का उपदेश करते हुए आचार्य कात्यायन ने कहा है कि अब ऊष्म वर्ण कहे जाते हैं – श्, ष्, स्, ह।1 ऋ0 प्रा0 में ऊष्म–संज्ञा का विधान करते हुए कहा गया है कि ''अन्तस्था वर्णों के बाद वाले आठ वर्ण 'ऊष्मन्' कहलाते हैं।''2 अर्थात् ह, श, ष, स, अः, क, प, अं, ये आठ वर्ण ऊष्म–संज्ञक हैं। इससे स्पष्ट है कि वा0प्रा0 में चार वर्ण ऊष्म–संज्ञक हैं और ऋ0 प्रा0 में आठ वर्ण। वा0प्रा0 में अः, क, प, त था अं वर्ण को ऊष्म–संज्ञक वर्ण के अन्तर्गत नहीं माना गया है। उल्लेखनीय है कि ऋ0 प्रा0 के अनुसार अं स्वर भी है और व्यंजन भी है तथा ऋ0प्रा0 को छोड़कर अन्यत्र कहीं भी अनुस्वार को उष्मन् नहीं माना गया है।

मुत् :-

मुत् संज्ञा का विधान करते हुए वा0प्रा0 में कहा गया है कि हकार व्यतिरिक्त ऊष्म वर्ण मुत् संज्ञक होते हैं।3 हकार से अन्य ऊष्म श्, ष् और स् है। अतः इनकी मुत् संज्ञा होती है। ऋ0प्रा0 में मुत् संज्ञा का विधान नहीं किया गया है।

अयोगवाह :-

वा0प्रा0 में वर्णसमाम्नाय का निर्देश करते हुए कहा गया है कि "अब अयोगवाह कहे जाएंगे – क यह जिह्वामूलीय है। प यह उपध्मानीय है। अं यह अनुस्वार है। अः यह विसर्जनीय है। हूँ यह नासिक्य है तथा कुँ, खुँ, गुँ, घुँ, ये यम हैं।4 इससे यह स्पष्ट होता है कि आयोगवाह संज्ञा के अन्तर्गत क, प, अं, अः, हुँ तथा कॅ्, खॅ्, गॅ्, घॅ् इन वर्णों का ग्रहण होता है। ऋ0प्रा0 में इस संज्ञा का विधान नहीं किया गया है।

अघोष (जित्) :-

वा0प्रा0 के अनुसार वर्गों के प्रथम दो–दो वर्ण जित्संज्ञक होते हैं।1 तथा हकार को छोड़कर शेष ऊष्म भी जित्–संज्ञक होते हैं।2 अर्थात् वर्गों के प्रथम दो–दो वर्ण – क्, ख्, च्, छ्, ट्, ठ्, त्, थ्, प्, फ् तथा हकार व्यतिरिक्त ऊष्म – श्, ष्, स्, ये तेरह (13) वर्ण जित् संज्ञक हैं। इस प्रकार वा0प्रा0 के सभी जित्–संज्ञक वर्ण ऋ0प्रा0 के अनुसार अघोष हैं। ऋ0प्रा0 के अनुसार "उष्म वर्णों में अन्तिम सात वर्ण अर्थात् श्, ष्, स्, अः, क, प और अं 'अघोष' हैं3 तथा प्रत्येक वर्ग में प्रथम दो वर्ण भी अघोष हैं।4 इससे स्पष्ट है कि दोनों प्रातिशाख्यों में अघोष वर्णों का संख्या के विषय में वैमत्य है। वा0प्रा0 में अः, क, प और अं को जित्–संज्ञक (अघोष) वर्ण नहीं माना गया है।

घोष :-

वा0 प्रा0 में घोष संज्ञा के स्थान पर 'घि' संज्ञा का प्रयोग किया गया है।

इसके अनुसार जित् संज्ञक व्यंजन से अन्य शेष व्यंजन 'घि' संज्ञक है।5 जित् से अन्य व्यंजन वर्णों के परवर्ती तीन स्पर्श, चार अन्तस्थ, हकार, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय, अनुस्वार, विसर्जनीय, नासिक्य तथा चार यम हैं। अतः ये घि संज्ञक हैं। ऋ0प्रा0 में 'घोष' संज्ञा का विधान तो नहीं किया गया है किन्तु 1/12 का भाष्य करते हुए भाष्यकार उवट ने कहा है – "परिशेष्यादन्यानि घोषवत्संज्ञकानि व्यंञ्जनानि।" अर्थात् शेष रहने से अन्य व्यंजन घोष–संज्ञक हैं, यथा – ग्, घ्, ङ्, ज्, झ्, ञ्, ड्, ढ्, ण्, द्, ध्, न्, ब्, भ्, य्, र्, ल्, व् और ह् ये घोष हैं। उल्लेखनीय है कि ऋ0प्रा0 में जिह्वामूलीय, उपध्मानीय, अनुस्वार, विसर्जनीय, नासिक्य तथा चार यम वर्णों को घोष–संज्ञक नहीं माना गया है। जबकि वा0प्रा0 में इन सबको 'घि' संज्ञक माना गया है।

अनुस्वार :-

ऋ0प्रा0 में अनुस्वार (संज्ञा) के स्वरूप के विषय में कहा गया है कि "अनुस्वार व्यंजन भी है और स्वर भी है।"1 भाष्यकार उवट का कहना है कि "स्वर एवं व्यंजन के कतिपय गुणों को धारण करने कारण दोनों के स्वभाव वाला 'अनुस्वार' स्वर और व्यंजन से भिन्न एक वर्ण हैं।"2 इसलिए अनुस्वार के स्वरूप का निरूपण किया गया है, क्योंकि स्वर, व्यंजन या अक्षर कहने से अनुस्वार का ग्रहण नहीं होता है। अनुस्वार शब्द से ग्रहण होता है।

अनुस्वार के विषय में पाणिनीय शिक्षा में कहा गया है कि "स्वरमनुभवतीत्यनुस्वारः"3 अर्थात् अनुस्वार वह ध्वनि है जो किसी स्वर के बाद में आती है। इससे स्पष्ट है कि 'अनुस्वार' स्वर एवं व्यंजन के गुणों से युक्त एक स्वतंत्र वर्ण है तथा 'अक्षर' का अंग है। ध्यातब्य है कि वा0प्रा0 में संज्ञा–प्रकरण के अन्तर्गत अनुस्वार संज्ञा का विधान नहीं किया गया है।

गुरू :-

ऋ0प्रा0 में गुरू–संज्ञा का विधान करते हुए कहा गया है कि – 'दीर्घ स्वर गुरू है।''4 भाष्यकार उवट के अनुसार जो दो मात्राओं वाले दीर्घ स्वर वर्ण को गुरु मानते है वह तीन मात्राओं वाले प्लुत स्वर वर्ण को गुरू मानते है।5 अतः आ, ऋ, ई, ऊ, ए, ओ, ऐ, औ, ई3, ये गुरू संज्ञक वर्ण हैं। ऋ0 प्रा0 में यह भी कहा गया है कि ह्रस्व स्वरों में जो संयोग पर या अनुस्वार पर है वे गुरू संज्ञक हैं।6 वा0 प्रा0 में संज्ञा प्रकरण के अन्तर्गत इस संज्ञा का विधान नहीं किया गया है।

अक्षर संज्ञा :-

ऋ0प्रा0 एवं वा0प्रा0 दोनों में इस संज्ञा का विधान किया गया है। ऋ0प्रा0 में अक्षर संज्ञा के विषय में विस्तृत विवेचन किया गया है। उसके अनुस्वार ह्रस्व एवं दीर्घ ये दोनों स्वर वर्ण अक्षर हैं।''1 व्यंजन सहित अथवा अनुस्वार सहित अथवा व्यंजन रहित व अनुस्वार रहित भी स्वर–वर्ण अक्षर संज्ञक होता है।''2 इससे यह स्पष्ट होता है कि स्वर वर्ण ही अकेला या व्यंजन तथा अनुस्वार के साथ मिलकर अक्षर बनता है। अक्षर न होने के कारण व्यंजन और अनुस्वार इन दोनों को स्वर वर्णों का अंग बनना पड़ता है।3 ऋ0प्रा0 में अक्षर के चार भेद बतलाये गये हैं – यथा – 1 गुरु 2. गुरुतर 3. लघु 4 लघुतर।4 वा0प्रा0 के अनुसार अक्षर ये हैं – 1. स्वरवर्ण अक्षर होते हैं।5 यथा – अ, ह, इत्यादि 2. पूर्ववर्ती व्यंजन के साथ भी स्वर वर्ण अक्षर होते हैं।6 यथा भो यहॉ पूर्ववर्ती व्यंजन भकार के साथ ओकार अक्षर है। 3. अवसान में स्थित परवर्ती व्यंजन के साथ भी स्वर वर्ण अक्षर हाते हैं। यथा – वाक्। यहॉ पूर्ववर्ती वकार तथा परवर्ती ककार के साथ आकार अक्षर है।

रक्त संज्ञा :-

ऋ0प्रा0 में इस संज्ञा का विधान करते हुए कहा गया है कि 'अनुनासिक'

वर्ण रक्त संज्ञक है।''1 अर्थात् अनुनासिक वर्ण ङ्, ञ्, ण्, न् और म् ये रक्त संज्ञक है। भाष्यकार उवट ने अनुसार रक्त संज्ञा का प्रयोजन – ''रक्त (अनुनासिक) ह्रस्व (स्वर वर्ण) को दीर्घ कर देते हैं। वा0प्रा0 में रक्त संज्ञा का विधान नहीं किया गया है।

अनुनासिक :-

ऋ0प्रा0 में वा0प्रा0 दोनों में अनुनासिक संज्ञा का विधान किया गया है। ऋ0प्रा0 के अनुसार अनुनासिक का अर्थ है – मुख और नासिका से उच्चरित होने वाला वर्ण।2 ऋ0प्रा0 में अनुनासिक शब्दों का तीन अर्थों में प्रयोग किया गया है – (1) वर्ग के अन्तिम वर्ण के रूप में, (2) स्वर वर्ण के विशेषण के रूप में4 और (3) अन्तःस्था वर्ण के विशेषण के रूप में''5। इन तीन स्थलों के अतिरिक्त एक स्थल पर उच्चारण–दोष के प्रसंग में अनुनासिक शब्द का प्रयोग किया गया है। 'वा0प्रा0 के अनुसार मुख तथा नासिका से उच्चरित होने वाले वर्ण अनुनासिक संज्ञक होते हैं।7 इसी सन्दर्भ में वा0प्रा0 में यह विधान किया गया है कि वर्गों के उत्तम स्पर्श (ङ्, ञ्, ण्, न्, म्) अनुनासिक होते हैं।8

संयोग संज्ञा :-

ऋ0प्रा0 एवं वा0प्रा0 दोनों में संयोग संज्ञा का विधान किया गया है। ऋ0प्रा0 में उल्लेख है कि ''व्यंजन वर्णों का मेल 'संयोग' कहलाता है।''1 संयोग संज्ञा का प्रयोजन है – स्वर वर्ण या अनुस्वार से अव्यवहित बाद में आने वाले संयोग का प्रथम वर्ण द्वित्व को प्राप्त कराना।''2 वा0प्रा0 में भी इस संज्ञा का विधान करते हुए कहा गया है – ''स्वर से अव्यवहित व्यंजन संयोग–संज्ञक होते हैं।'' अर्थात् जब दो या अधिक व्यंजन स्वर वर्ण का व्यवधान हुए बिना संयुक्त होते हैं तो उनकी संयोग संज्ञा होती है। यथा– पक्क्वम्। यहाँ स्वर वर्ण से अव्यवहित दो ककार तथा वकार हैं। अतः यहाँ ये व्यंजन संयोग संज्ञक है।

सवर्ण :-

ऋ०प्रा० में सवर्ण संज्ञा का विधान तो नहीं किया गया है, किन्तु पारिभाषिक अर्थ में इस संज्ञा का प्रयोग किया गया है। स्वर वर्णों के उच्चारण स्थान और प्रश्लिष्ट सन्धि के उपदेश में जहाँ ह्रस्व स्वर का उल्लेख हो वहाँ ह्स्व और दीर्घ दोनों सवर्ण स्वर वर्णों को समझना चाहिए।'' वा०प्रा० में कहा गया है कि ''समान स्थान'' करण आस्य प्रयत्न वाला वर्ण सवर्ण संज्ञक होता है।'' यथा – इकार तथा ई कार का उच्चारण स्थान तालु, करण जिह्वामध्य तथा आभ्यन्तर प्रयत्न अस्पृष्ट है। अतः ये सवर्ण संज्ञक हैं। इसी प्रकार उ तथा ऊ, ऋ तथा ॠ लृ तथा लॄ भी परस्पर सवर्ण संज्ञक हैं। वा० प्र० के इस विधान के अनुसार अकार और आकार की परस्पर सवर्णता नहीं प्राप्त होती है; क्योंकि इन दोनों का उच्चारण स्थान कण्ठ अथा करण हनुमध्य है, जो समान है, किन्तु अकार का आभ्यन्तर प्रयन्त संवृत तथा आकार का आभ्यन्तर प्रयत्न विकृत है। अतः दोनों वर्ण सवर्ण नहीं है फिर भी ये सवर्ण की तरह कार्य को प्राप्त करते हैं।

उपधा :-

ऋ०प्रा० में तो उपधा संज्ञा का विधान नहीं किया गया है, किन्तु अनेक स्थलों पर इस संज्ञा का प्रयोग किया गया है। उपधा का शाब्दिक अर्थ है समीप में रखा हुआ। इसी शाब्दिक अर्थ को दृष्टि में रखकर ऋ०प्रा० में अव्यवहित पूर्व में स्थित वर्ण अथवा पद के लिए उपधासंज्ञा का प्रयोग किया गया है। उल्लेखनीय है कि वा०प्रा० में अन्तिम वर्ण से पूर्ववर्ती वर्ण के लिए 'उपधा' संज्ञा का प्रयोग किया गया है। यथा – महान्। यहाँ महान् पद के अन्तिम वर्ण नकार से पूर्ववर्ती वर्ण आकार 'उपधा' है।

पद :-

ऋ०प्रा० में 'पद' शब्द का लक्षण प्रस्तुत नहीं किया गया है, किन्तु इस शब्द

का प्रयोग अनेक स्थलों पर किया गया है। वा0प्रा0 में कहा गया है कि 'अर्थ' 'पद' है।4 इसकी व्याख्या करते हुए उवट ने कहा है कि अर्थ का अभिधान करने वाला पद होता है। इसके द्वारा अर्थ के पास पहुँचा जाता है। अतः यह पद कहलाता है।

नति संज्ञा :-

ऋ0प्रा0 में 'नति' संज्ञा का विधान नहीं किया गया है। किन्तु अनेक स्थलों पर 'नति' (मूर्धन्यभाव) का उल्लेख प्राप्त होता है।1 वा0प्रा0 के अनुसार दन्त्य वर्ण का मूर्धन्य होना नति कहलाता है यथा– परि। सिञ्चति/ परिषिञ्चति (वा0प्रा019/2) यहाँ पर दन्त्य (सकार) की मूर्धन्य भाव (षकार) रूप 'नति' हुई है।

अपृक्त :-

वा0प्रा0 में इस संज्ञा का विधान करते हुए कहा गया है कि ''एक वर्ण वाला पद अपृक्त संज्ञक होता है।''3 यथा – उ यहाँ उ एक वर्ण वाला पद है। अतः इसकी अपृक्त संज्ञा है। ऋ0 प्र0 में इस संज्ञा का विधान नहीं किया गया है।

लोप :-

ऋ0 प्र0 में लोप– संज्ञा का विधान नहीं किया गया है। वा0प्रा0 में इस संज्ञा का विधान करते हुए कहा गया है ''वर्णों का अदर्शन लोप है।''5 अर्थात् वर्ण की सत्ता बनी रहती है। लोप होने पर वर्ण केवल दिखलाई नहीं पड़ता है।

स्थितोपस्थित :-

इस संज्ञा का विधान केवल वा0प्रा0 में किया गया है। इसके अनुसार मध्य में स्थित 'इति' से मिला हुआ पद 'स्थितोपस्थित' कहलाता है।1 इति पद को मध्य में रखकर आदि और अन्त के सहित अर्थात् पहले आदि वर्ण से संहिता करके फिर अन्य वर्ण से संहिता करके निष्पन्न निरूक्त पद स्थितोपस्थित कहा

जाता है। भाष्यकार उवट ने स्थित और उपस्थित शब्द का लक्षण करते हुए कहा है कि इति शब्द से रहित पद स्थित संज्ञक होता है।2 यथा – इषे। त्वा (वा0प्रा0 1/1) पद का परवर्ती इति के साथ सन्धि करके पढ़ना उपस्थित संज्ञक होता है।3 यथा– प्रातरिति। पद को पहले 'इति' के साथ उपस्थित रूप में पढ़कर पुनः स्थित रूप में विधानानुसार पढ़ना स्थितोपस्थित कहलाता है।

आम्रेडित :-

इस संज्ञा का विधान केवल वा0प्रा0 में किया गया है। इसके अनुसार दो बार कहा गया पद आम्रेडित कहलाता है।4 यथा – यज्ञा यज्ञा वो अग्नये। यहॉ यज्ञा पद दो बार आया है अतः यह आम्रेडित है।

संहित :-

वा0प्रा0 के अनुसार पूर्ववर्ती के साथ उत्तरवर्ती का मेल 'संहित' संज्ञक होता है।5 अर्थात् पदादि तथा पदान्त को जब स्वर अथवा वर्ण की दृष्टि से मिलाया जाता है, तब वह 'संहित' कहलाता है। यथा– इषे त्वा त्वार्जे (वा0प्रा0 1/1)।

असंहित :-

वा0प्रा0 में 'असंहित'–संज्ञा का विधान करते हुए कहा गया है कि पदों का पृथक्करण असंहित कहलाता है।1 अर्थात् संहिता के प्रत्येक पद को अलग–अलग करना असंहित है। असंहित का अर्थ है न मिला हुआ। जब दो पदों को बिना मिलाए अलग–अलग रखते हैं तो उसे असंहित कहते हैं। यथा – इषे। त्वा। ऊर्जे। त्वा (वा0 1/1)। यहॉ पदों को अलग–अलग रखा गया है। अतः यहॉ असंहित संज्ञा है। यहॉ असंहित संज्ञा का प्रयोग पदपाठ के अर्थ में हुआ है।

प्रग्रह (प्रगृह्य) :-

इस संज्ञा का विधान केवल वा0 प्रा0 में किया गया है। वा0 प्रा0 के प्रथम अध्याय के सात सूत्रों (1/92–98) में ही प्रगृह्य संज्ञा स्वरों का विधान किया

गया है–

(1) द्विवचनान्त एकार, ईकार तथा ऊकार प्रगृह्य संज्ञक होते है यथा– दू (वा0 17/91) उर्वी/अध्वर्यू।

(2) अवग्रहान्त न होने पर पदान्तीय ओकार प्रगृह्य संज्ञक होते हैं।3 यथा– चित्रभानो (वा0प्रा0 20/87)

(3) अपृक्त उकार प्रगृह्य संज्ञक होता है।4 यथा– उ (वा0प्रा0 26/16)

(4) चम् अस्मे और त्वे प्रगृह्य संज्ञक होते हैं।5

(5) उदान्त में पद प्रगृह्य संज्ञक होता है।6 यथा– मे (वा0 4/22)

(6) पद होने पर अभी प्रगृह्य संज्ञक होता है।7 यथा– अभी (वा0 34/43)

रिफित :-

वा0प्रा0 में रिफित संज्ञा का विधान करते हुए कहा गया है कि आगे कहे जाने वाले स्थलों में विसर्जनीय रिफित संज्ञक होता है।1 भाष्यकार उवट का कथन है कि इसके आगे विहित अकार तथा आकार के बाद में विद्यमान विसर्जनीय रिफित संज्ञक होता है।2 वे स्थल इस प्रकार हैं –

(1) अनुदात्त होने पर कः पद का विसर्जनीय रिफित संज्ञक होता है।3 यथा – कः (वा– 33/59)

(2) आद्युदात्त न होने पर अन्तः पद का विसर्जनीय रिफित संज्ञक होता है।4 यथा – अन्तः (वा. 7/5)

(3) मकार के बाद में न होने पर अहः का विसर्जनीय रिफित संज्ञक होता है।6 यथा– अहरहः (वा 11/75)

(4) एक ऋचा में होने पर आवः और वः का विसर्जनीय रिफित संज्ञक होता है। यथा– आवः। वः (वा. 13/3)

(5) स्तोः, वस्तः, सनुतः, अमाः, वाः और द्वः का विसर्जनीय रिफित संज्ञक होता

है।7 यथा– स्तोतः (वा. 23/7)

(6) अरण बाद में न होने पर स्वः पद का विसर्जनीय रिफित संज्ञक होता है।8 यथा– स्वर्ण धर्मः (वा. 18/50)

(7) जित् संज्ञक वर्ण बाद में न होने पर पदादि स्वः का विसर्जनीय रिफित संज्ञक होता है।9 यथा– स्वम्याय (वा. 11/2)

(8) हवाः, सवितः, पुनः, त्वण्टः, नेष्टः, अकः, होतः, मातः, प्रातः, जमातः, अजीगः और प्रणोतः का भी विसर्ज़नीय रिफित संज्ञक होता है।10 यथा– मह्वाम्ति (वा. 1/2), देवसवितरित देव–सवितः (वा.9/1) इत्यादि।

परिभाषाएॅ :-

वाजसर्णेय प्रातिशाख्य में विहित परिभाषाएँ :-

(1) वर्णों का निर्देश इति के द्वारा भी होता है।1 वा0प्रा0 में इति बाद में रखकर भी वर्णों का निर्दिष्ट किया गया है। यथा – अ– इति, आ इति, आ3इति (वा0प्रा0 8/3)

(2) सप्तमी विभक्ति द्वारा पद के निर्दिष्ट होने पर उससे पूर्ववर्ती में कार्य जानना चाहिए।2 अर्थात् यदि कोई पद सप्तमी विभक्ति में प्रयुक्त हो तो उसे परवर्ती निमित्त समझना चाहिए। उस सप्तमी विभक्ति में प्रयुक्त निमित्र से पूर्ववर्ती स्थल में विहित कार्य होता है। यथा – तथयोःसम् (वा0प्रा0 3/135)। यहॉ पर तकार तथा धकार सप्तमी विभक्ति द्वारा निर्दिष्ट है। अतः ये परवर्ती निमित्त है। प्रस्तुत परिभाषा सूत्र के अनुसार इन परवर्ती निमित्तों को बाद में होने पर पूर्ववर्ती नकार का सकार भाव रूप विहित कार्य होता है।

(3) पंचमी विभक्ति द्वारा निर्दिष्ट पद से परवर्ती पद के आदि में कार्य को जानना चाहिए।3 तात्पर्य यह है कि यदि कोई पद पंचमी विभक्ति में प्रयुक्त

हो तो उसे पूर्ववर्ती निमित्त समझना चाहिए। उस पंचमी विभक्ति में प्रयुक्त निमित्त से उत्तरवर्ती पद के आदि में कार्य होता है। यथा– परेश्च सिञ्चते (वा0प्रा0 3/63)। प्रस्तुत विधान के अनुसार इस निमित्त परि से परवर्ती सिञ्चते के आदि सकार में षकार भाव रूप कार्य होता है। जैसे – परिषिञ्चन्ति (वा0प्रा0 19/2)

(4) आगम दो पदों के मध्य में होता है।4 अर्थात् आगम न तो दो पदों के पूर्व में होता है और न बाद में, प्रत्युत दो पदों के बीच में होता है। यथा – प्राङ् – सोमः= प्राङ क सोमः (वा0प्रा019/2) यहाँ वा0प्रा0 4/14 के अनुसार ककारागम हुआ है। जो प्रस्तुत विधान के अनुसार दो पदों प्राङ् तथा सोमः के बीच हुआ है।

(5) एक पद में विहित आगम उस पद में बाद में होता है।1 अर्थात् जहाँ पर दो पद नहीं है, एक ही पद है और उसमें आगम का विधान किया गया है, वहाँ उस पद के बाद में आगम होता है। यथा–दू इति दूं (वा0 प्रा 17/31)। वा0 प्रा0 9/17 से यहाँ इति के आगम का विधान किया गया है। प्रस्तुत विधान के अनुसार यह आगम दू पद के बाद में होता है।

(6) विकार विधान के अनुसार पदान्त अथवा पदादि अथवा पदान्त और पदादि दोनों में होता है। यथा– पदान्त में– तत। नः = तन्नः पदादि में– मो। सु = मोषु। पदान्त तथा पदादि दोनों में आ। इद्म = एदम्।

(7) विकार को प्राप्त करने वाला वर्ण कोई विशेष विधान न होने पर समीपता के अनुसार विकार को प्राप्त करता है। यहाँ यह स्पष्ट रूप से विधान नहीं किया गया है कि अमुक 'वर्ण' अमुक वर्ण में विकृत होगा, वहाँ पर विकार को प्राप्त करने वाला वर्ण अपने स्थान तथा प्रयत्न आदि की दृष्टि से समीपवर्ती वर्ण में विकृत हो जाता है।

(8) समान संख्या वाले पदों अथवा वर्णों का परवर्ती निर्देश संख्या के अनुसार होता है। अर्थात् (अ) किसी विधान वाले सूत्र में पूर्ववर्ती और उत्तरवर्ती अंश का उल्लेख यदि समान संख्या में है तो उनमें पूर्ववर्ती अंश के प्रथम का उत्तरवर्ती के प्रथम से, पूर्ववर्ती अंश के द्वितीय का उत्तरवर्ती अंश के द्वितीय के साथ सम्बन्ध जानना चाहिए। यथा– सदाद्यौर्नमस्कृतं पिता पथेषु (वा0 प्रा0 3/34)। (आ) इसी प्रकार विकार को प्राप्त होने वाले वर्ण तथा विकार की संख्या समान होने पर उन्हें यथाक्रम जानना चाहिए। यथा–सन्ध्यक्षरमयवायावम् (वा0 प्रा0 4/47)। यहाँ पर विकारी वर्ण चार सन्ध्यक्षर (ए, ओ,ऐ और औ) हैं और उनके स्थान पर होने वाले विकार भी चार (अय, अव्, आय्, आव्) हैं। अतः प्रस्तुत परिभाषा के अनुसार यह विकार क्रमानुसार होते हैं।

(9) सपीपवर्ती एवं दूरवर्ती में समीपवर्ती का ग्रहण करना चाहिए। तात्पर्य यह है कि यदि सूत्रोक्त कोई विधान दो स्थलों पर लागू होता है और उनमें किसी के लिए निर्णायक प्रमाण स्पष्ट उपलब्ध नहीं हैं, तब इस विधान के स्थल का निर्णय करने के सूत्रगत अन्य पदों के जो सन्निकृष्ट स्थल हैं, उनका ग्रहण करना चाहिए।

(10) जहाँ पूर्ववर्ती पद तथा उत्तरवर्ती पद को उछिष्अ करके स्वर विषयंक दो विधान अलग–अलग प्राप्त होते हैं, वहाँ परवर्ती पद को लक्ष्य करके प्राप्त होने वाले विधान के अनुसार कार्य होता है।

(11) अवग्रह पदान्तवत होता है। तात्पर्य यह है कि सावग्रह पद का पूरा पद न होते हुए भी वर्ण के विकारादि में पदान्त के समान कार्यो को प्राप्त करता है। वा0 प्रा0 1/85 के अनुसार वर्गों के प्रथम स्पर्श पदान्तीय होते हैं। अतः पद–पाठ में 1/85 के अनुसार दकार के स्थान पर तकार होकर भरत्–वाजः

यह रूप बनता है।

(12) अवग्रह के पदान्त के सदृश कार्य करने पर भी इसके बाद में इति शब्द नहीं आता है। तात्पर्य यह है कि सावग्रह पद के पूर्वपद के पदान्त की तरह कार्य करने से उसके बाद पदपाठ में इति शब्द का आना भी प्राप्त होता है। उसका यहाँ निषेध किया गया है। यथा– अन्तश्लेषः (वा0 प्रा0 13/23) यहाँ अन्तः अवग्रह पद है, जो सर्वानुदात्त है। इसका रेफ स्वरूप संहिता में स्पष्ट नहीं है। वा0 प्रा0 4/19 के अनुसार जिस रिफित विसर्जनीय का रेफ स्वरूप संहिता में स्पष्ट नहीं होता है पद–पाठ में वह रिफित पद इति के द्वारा व्यवहित हो जाता है। इस नियम के अनुसार पदान्त की तरह कार्य करने से अन्त पद को भी पद–पाठ में इतिकरण द्वारा दिखाया जाना चाहिए, जिससे पद–पाठ में अन्तश्यिन्तः ऐसा रूप करना चाहिए। प्रस्तुत परिभाषा सूत्र द्वारा इसका निषेध हो जाता है, जिससे पद–पाठ में यह रूप नहीं होता है।

(13) तुल्य बल वाले सूत्रों का विरोध होने पर परवर्ती सूत्र बलवान् होता है– लोप के स्थलों को छोड़कर। तात्पर्य यह है कि भिन्न–भिन्न स्थलों पर विहित दो विधान जब एक लक्ष्य पर एक ही साथ प्राप्त होते हैं, तब परवर्ती विधान बलवान् होता है अर्थात् परवर्ती विधान के अनुसार कार्य होता है। किन्तु यदि एक ही लक्ष्य पर समान बल के साथ प्राप्त होने वाले दोनों विधानों में पूर्ववर्ती सूत्र का लोप करने वाला है तो परवर्ती सूत्र बलवान् नहीं होता है प्रत्युत पूर्ववर्ती लोप विधायक सूत्र ही बलवान् होता है, जिससे उसी के अनुसार कार्य होता है। इसी प्रकार यदि लोप का सूत्र परवर्ती है तो उसी के अनुसार कार्य होता है।

(14) सन्धि पदान्त तथा पदादि में होती है। अर्थात् सन्धि सम्बन्धी कार्य पूर्ववर्ती

पद के अन्तिम वर्ण तथा परवर्ती पद के आदि वर्ण में होता है। यथा– आ। इदम् =एदम् (वा0 4/1) यहाँ पदान्त 'आ' तथा पदादि 'इ' है, इन दोनों में सन्धि हुई है, जिससे वा0 प्रा0 4/52 के अनुसार एदम रूप निष्पन्न हुआ है।

(15) विभाग (काल) 'हि' मध्य (अन्तर) वाले हैं। तात्पर्य यह है कि वा0 प्रा0 में विहित सन्धि विषयक विधानों को तीन विभागों में किया गया है। इन विभागों के पृथक्करण के लिए विभागों के मध्य में 'हि' का प्रयोग किया गया है। उल्लेखनीय है कि वा0 प्रा0 के सन्धि विषयक विधानों में 'हि' सूत्र 4/11 तथा 4/125 दो स्थलों पर प्रयुक्त है।

(16) परकाल की सन्धि होने के बाद पुनः पूर्वकाल की सन्धि प्राप्त होने पर परकाल की सन्धि होते हुए भी न होने के समान होती है। तात्पर्य यह है कि 'हि' के द्वारा वा0 प्रा0 में विहित सन्धि विषयक विधानों के जो तीन विभाग (काल) किए गए हैं, उसमें से प्रथम विभाग के अन्तर्गत किए गए विधान के पूर्व कालिक हैं तथा उसके लिए द्वितीय तथा तृतीय विभाग में विहित विधान परकालिक हैं। द्वितीय विभाग के अन्तर्गत विहित विधान प्रथम विभाग के लिए परकालिक होते हुए भी तृतीय विभाग के लिए पूर्वकालिक है तथा तृतीय विभाग उसके लिए परकालिक है। इन विभागों के विधानों में से परकाल के विधान द्वारा सन्धि हो जाने पर यदि पुनः पूर्ववर्ती विभाग के विधान द्वारा सन्धि प्राप्त होती है, तब परवर्ती विभाग के विधान द्वारा सन्धि होते हुए भी पूर्ववर्ती विभाग के विधान के लिए वह न होने के सदृश होती है।

द्वितीय अध्याय
वर्णसमाम्नाय प्रकरण

द्वितीय अध्यायः
वर्णसमाम्नाय-प्रकरण

वर्णसमाम्नाय का अर्थ :-

वर्णसमाम्नाय दो शब्दों से निष्पन्न हुआ है – (1) वर्ण (2) समाम्नाय। इसका अर्थ है– वर्णों का समूह, वर्णों का संग्रह अर्थात् वर्णमाला। तै0 प्रा. 1/1 में वर्णसमाम्नाय का विवेचन इस प्रकार किया गया है– सम् का अर्थ है एकत्र करना, 'आ' यह मर्यादा, अर्थ में प्रयुक्त है। 'म्नाय' का अर्थ है– क्रम से उपदेश। पूर्ववर्ती आचार्यों ने जिन अकारादि वर्णों को क्रम से एकत्र करके उपदिष्ट किया है, वहीं वर्णसमाम्नाय है।[1] वैय्याकरणों के अनुसार जो वर्णित होते हैं, स्पष्ट रूपेण ध्वनित होते हैं वे– अकारादि वर्ण हैं। सम् उपसर्ग सहभाव को द्योतित करता है। आम्नाय का अर्थ है अभ्यास , पाठविधान जहॉ वर्णों के समुदाय का अभ्यास (पाठ) किया जाता है, वह वर्णसमाम्नाय है।[2] वा0 प्रा. के भाष्य में उवट ने वर्णसमाम्नाय की व्याख्या करते हुए कहा है कि जिस संग्रह में वर्णों का पाठ होता है, वह वर्ण समाम्नाय है।[3] ध्यातब्य है कि वर्णसमाम्नाय का सर्वप्रथम प्रयोग तै0 प्रा. में उपलब्ध होता है– 'अथ वर्णसमाम्नायः।[4] ऋग्वेद प्रातिशाख्य में वर्णसमाम्नाय के स्थान पर 'वर्ण–राशि' शब्द का प्रयोग किया गया है–''इति वर्णराशिः क्रमश्च'' (वर्गद्वय10)।

वर्णसमाम्नाय का कथन :-

वा0प्रा. के आठवें अध्याय में प्रातिशाख्यकार कात्यायन ने स्वयं वर्णसमाम्नाय का पूर्णरूपेण कथन किया है। ऋ.प्रा. में भी प्रातिशाख्यकार ने वर्णसमाम्नाय का

---

1. *तै0 प्रा0 1/1 त्रि0*
2. *तै0प्रा0 1/1 वै0*
3. *वा0प्रा0 8/1 उ0*
4. *तै0 प्रा0 1/1*

उल्लेख किया है। अतः दोनों प्रातिशाख्यों में निर्दिष्ट वर्णसमाम्नाय का तुलनात्मक अध्ययन यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है :–

दोनों प्रातिशाख्यों में स्वीकृत वर्णराशि :-

वा.प्रा. में वर्णसमाम्नाय के अन्तर्गत विहित वर्ण इस प्रकार हैं – अ. आ. आ3, इ, ई. ई3, उ, ऊ, ऊ3, ऋ, ॠ, ऋ3, लृ, लॄ, लृ3, ए, ए3, ऐ, ऐ3, ओ, ओ3, औ, औ3 ये स्वर–वर्ण है। क्, ख्, ग्, घ्, ङ्, च्, छ्, ज्, झ्, ञ्, ट्, ठ्, ड्, ढ्, ण्, त्, थ्, द्, ध्, न्, प्, फ, ब्, भ्, म्, ये स्पर्श हैं। य्, र्, ल्, व्, – ये अन्तस्थ वर्ण हैं; श, ष, स्, ह्, ये ऊष्म वर्ण है, ˘ क जिह्वामूलीय है, प उपध्मानीय है। अं अनुस्वार है ऊः विसर्जनीय है। हूँ नासिक्य है; कुँ, खुँ, गुँ, घुँ, – यम है।[1] इसके अतिरिक्त वा.भ., 8/45 में क् तथा कह् का भी संकेत मिलता है।[2] परन्तु प्रातिशाख्यकार ने वर्णसमाम्नाय में इनकी गणना नहीं किया है। वा.प्रा. के अनुसार इस वर्ण–राशि में से क्, कह जिह्वामूलक, उपध्मानीय, नासिक्य, लृ इत्यादि कहे गये प्लुतों को छोड़कर अन्य प्लुत माध्यन्दिन शाखा में नहीं होते।[3]

ऋ.प्रा. में वर्णसमाम्नाय के अन्तर्गत जो वर्ण स्वीकृत हैं वे इस प्रकार है :– अ, आ, ऋ, ॠ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ओ, ऐ, औ,लृ ये स्वर हैं तथा क्, ख्, ग्, घ्, ञ्, च्, छ्, ज्, झ्, ञ्, ट्, ठ्, ड्, ढ्, ण्, त्, थ्, द्, ध्, न्, प्, फ्, ब्, फ्, ब्, भ्, म्, य्, र्, ल्, व्, ह्, श्, ष्, स्, अः, क, प, और अं ये भी व्यञ्जन हैं[4] दोनों प्रतिशाख्यों में वर्णसमाम्नाय के अन्तर्गत गृहीत वर्णों को इस सारणी के माध्यम से स्पष्ट किया जा सकता है :–

---

1. वा०प्रा० 8/1/31
2. वा०प्रा० 8/45–46
3. वा०प्रा० 2/50–51
4. ऋ०प्रा० 9/10, द्रष्टब्य ऋ०प्रा० एक परिशीलन, वर्मा, पृ० 4

सारिणी

ऋक् प्रातिशाख्य		वाजसनेयि प्रातिशाख्य	
स्वर	व्यञ्जन	स्वर	व्यजंन
अ, आ, आ3, इ, ई, इ3, उ, ऊ, ऊ3, ऋ, ॠ, ऋ3, लृ, ॡ, लृ3, ए, ए, ऐ, ऐ3, ओ, ओ3, औ, औ3, = 23	क्, ख्, ग्, घ्, ङ्०, च्, छ्, ज्, झ्, ञ्, ट्, ठ्, ड्, ढ्, ण्, त्, थ्, द्, ध्, न्, प्, फ्, ब्, भ्, म्, य्, र्, ल्, व्, श्, ष्, स्, ह्, ᳵक, ᳶप्, अं, अः, हु कुँ, खुँ, गुँ, और, घुँ,=42	अ, आ, ऋ, ॠ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ओ, ऐ, औ, ई3, लृ, =14	क्, ख्, ग्, घ्, ङ्०, च्, छ्, ज्, झ्, ञ्, ट्, ठ्, ड्, ढ्, ण्, त्, थ्, द्, ध्, न्, प्, फ्, ब्, भ्, म्, य्, र्, ल्, व्, ह्, श्, ष्, स्,अः, ᳵक, ᳶप, अं, = 37

इस वर्ण समाम्नाय के अवलोकन से यह स्पष्ट होता है कि दोनों प्रतिशाख्यों में गृहीत वर्णसमाम्नाय में कुछ वैषम्य है जो इस प्रकार है – ऋ.प्रा. में चौदह स्वर माने गये हैं जब कि वा.प्रा. में तेईस स्वर माने गये हैं, अर्थात् वा.प्रा. में आ3, ऊ3, ऋ3, लृ, लृ3, ए3,ऐ3 ओ3 और औ3 को स्वर के अन्तर्गत नहीं माना गया है। (2) ऋ0 प्रा0 में (37) सैंतिस व्यंजन स्वीकृत हैं जबकि वा0प्रा0 में (42) बयालिस व्यञ्जन माने गये हैं। अर्थात् ऋ0प्रा0 में हू, कुँ, खुँ, गुँ एवं घुँ को व्यञ्जन नहीं माना गया है।

वर्णों की संख्या :-

ऋ0प्रा0 एवं वा0प्रा0 दोनों के वर्णसमाम्नाय के वर्णों की संख्या में अन्तर है। वा0प्रा0 में स्वयं सूत्रकार ने कहा है कि ये पैंसठ वर्ण होते हैं।1 अर्थात् वा0प्रा0 के अनुसार वर्णों की संख्या पैंसठ है जिनमें से तेईस स्वरवर्ण तथा बयालिस (42) व्यञ्जन हैं।[1] वा0प्रा0 के अनुसार समस्त वाङ्मय जो संसार में उपलब्ध होता है वह इन्हीं वर्णों में प्रतिष्ठित है।[2] ऋ0प्रा0 में इक्यावन (51) वर्ण होते हैं जिनमें से चौदह स्वर एवं 37 व्यंजन हैं। वर्गद्वय के दशम श्लोक में अं की गणना व्यञ्जन

1. *वा0प्रा0 8/44*
2. *वा0प्रा0 8/33*

से की गई है। किन्तु 1/5 में इसे स्वर और व्यञ्जन दोनों माना गया है। ध्यातव्य है कि 'अं' को स्वर एवं व्यञ्जन उभय मानने से पन्द्रह (15) स्वर एवं सैंतीस व्यञ्जन हो जाते हैं।

वर्णराशि का विभाजन :-

दोनों प्रातिशाख्यों में सम्पूर्ण वर्णराशि को दो भागों में विभक्त किया गया है। (1) स्वर वर्ण (2) व्यंजन वर्ण। इनका विवेचन इस प्रकार है :-

स्वर वर्ण :-

वर्णविशेष का बोध कराने वाला स्वर शब्द स्वृ धातु से अच् प्रत्यय लगाकर निष्पन्न हुआ है। इसका अर्थ है ध्वनि करना। ऋ0प्रा0 में स्वर के विषय में कहा गया है कि किसी अन्य की सहायता बिना स्वयं उच्चारित होते हैं इसलिए स्वर कहलाते हैं।[1] ऋ0प्रा0 में चौदह (14) तथा वा0प्रा0 में तेइस स्वरवर्णों का ग्रहण हुआ है। इनका विभाजन इस प्रकार है :-

वा0प्रा0के अनुसार स्वर वर्णों का विभाजन :-

मूलस्वर :-

वा0प्रा0 के अनुसार अ, आ, आ3, इ, ई, ई3, उ, ऊ, ऊ3, ऋ, ॠ3, लृ, ॡ तथा लृ3 ये मूल स्वर हैं।[2] यहाँ मूल स्वर का तात्पर्य उन स्वर वर्णों से हैं जो दो स्वरवर्णों की सन्धि से उत्पन्न नहीं होते तथा जिनका उच्चारण सर्वांश में समानरूपेण होता है।

सन्ध्यक्षर :-

सन्ध्यक्षर का अर्थ है – दो स्वरवर्णों की सन्धि से निष्पन्न अक्षर। वे स्वरवर्ण जो दो स्वरवर्णों की सन्धि से निष्पन्न हुए एक वर्ण के समान होते हैं, वे सन्ध्यक्षर

---

1. *स्वर्यन्ते शब्धन्त इति स्वराः। ऋ0प्रा0 1/3 उ0*
2. *वा0प्रा0 8/2-7*

कहे जाते हैं। इनकी विशेषता यह है कि इन स्वरवर्णों का उच्चारण सर्वांश में समान नहीं होता। इनका उच्चारण दो स्थानों से होता है। वा0प्रा0 के अनुसार ए, ए3, ऐ, ऐ3, ओ, ओ3 औ तथा औ3 ये आठ स्वरवर्ण सन्ध्यक्षर हैं।[1] स्वरवर्णों के इस विभाजन को इस सारणी द्वारा प्रस्तुत किया जा सकता है :–

ऋ0प्रा0 के अनुसार स्वरवर्णों को दो श्रेणियों में विभक्त किया गया है – (1) समानाक्षर तथा (2) सन्ध्यक्षर। समानाक्षर स्वरों में अ, आ, ऋ, ॠ इ, ई, उ, ऊ गृहीत होते हैं।[2] स्वरूप की दृष्टि से ई3 एवं लृ को भी समानाक्षर माना जा सकता है। सन्ध्यक्षरों में ए, ओ, ऐ एवं औ गृहीत होते हैं।[3]

सारिणी

प्रातिशाख्य	स्वर			
ऋक् प्रातिशाख्य	समानाक्षर	मूलस्वर	अन्य स्वर	सन्ध्यक्षर
	अ, आ, ऋ, ऋ इ, ई, उ, ऊ, ई3, लृ,	————————	—————	ए, ओ, ऐ, औ,
वाजसनेयि प्रातिशाख्य	————	अ, आ, आ3, इ, ई, ई3, उ, ऊ, ऊ3, ऋ, ऋ3, लृ, लृ, लृ3,		ए, ए3, ऐ, ऐ3, ओ, ओ3, औ, औ3,

व्यञ्जन वर्ण :-

व्यञ्जन शब्द प्रकट होना, व्यक्त होना अथवा प्रकाशित होना अर्थ वाली अञ् धातु से वि उपसर्ग पूर्वक अनट् प्रत्यय लगाकर निष्पन्न हुआ है। ऋ0प्रा0 में व्यञ्जन के विषय में कहा गया है कि "स्वरों तथा अनुस्वार के व्यतिरिक्त सभी शेष वर्ण व्यंजन हैं।[4] ऋ0प्रा0 में वर्गद्वय के दशम श्लोक में 'अं' की गणना

1. वा0प्रा0 8/8–12
2. ऋ0प्रा0 1/1
3. ऋ0प्रा0 1/2
4. ऋ0प्रा0 1/6

व्यञ्जनों में की गयी है। अतः ऋ0प्रा0 में सैतीस तथा वा0प्रा. में बयालिस व्यञ्जनों का उपदेश किया गया है। इनं व्यञ्जन वर्णों का विभाजन इस प्रकार है :–

स्पर्श व्यञ्जन :-

वा0प्रा0 में स्पर्श व्यंजनों का विधान करते हुए कहा गया है कि क्, ख्, ग्, घ्, ङ्, – यह कवर्ग है। च्, छ्, ज्, झ्, ञ्, यह चवर्ग है। ट्, ठ्, ड्, ढ्, ण्, य टवर्ग हैं। त्, थ्, द्, ध्, न् य तवर्ग हैं। प्, फ्, ब्, भ्, म्, यह पवर्ग है– ये वर्ण स्पर्श है।[1] ऋ0प्रा0 में विधान है कि ''व्यञ्जनों में आदि वाले पच्चीस वर्ण 'स्पर्श' कहलाते हैं, अर्थात् (क से म् तक) तथा उन स्पर्शों के पॉच–पॉच वर्णों को पॉच वर्ग हैं।[2] यथा – कवर्ग (क, ख,ग, घ, ङ्) चवर्ग (च, छ, ज, झ, ञ) टवर्ग (ट,ठ, ड, ढ,ण्), तवर्ग (त, थ, द, ध, न्) एवं पवर्ग (प,फ,ब,भ,म)

अन्तस्थ :-

वा0प्रा0 के अनुसार अन्तस्थ वर्ण– य्, र्, ल्, व्, ह् हैं।[3] ऋ0प्रा0 में भी य्, र्, ल्, व्, को अन्तस्थ वर्ण माना गया है।[4] अतः इससे स्पष्ट होता है कि दोनों प्रतिशाख्यों में अन्तस्थ वर्णों के अन्तर्गत य्, र्, ल् तथा व् का ग्रहण समान रूप से किया गया है।

ऊष्म :-

वा0प्रा0 के अनुसार श्, ष्, स् तथा ह् – ये चार वर्ण ही ऊष्म हैं।[5] ऋ0प्रा. में उल्लेख है कि ''अन्तस्थ वर्णों के बाद आने वाले आठ वर्ण 'उष्मन्' कहलाते

---

1. *वा0प्रा0 8/15–20*
2. *ऋ0प्रा0 1/7–8*
3. *वा0प्रा0 8/21–22*
4. *ऋ0प्रा0 1/9*
5. *वा0प्रा0 8/23–24*

हैं।"[1] ह्, श्, ष्, स्, अ्:, क, प, एवं अं, ये ऊष्मवर्ण हैं।

अयोगवाह :-

वा0प्रा0 के सात सूत्रों (8/25–31) में आयोगवाह वर्णों का उपदेश किया गया है। अयोगवाह शब्द की व्याख्या करते हुए भाष्यकार उवट् का कथन है कि अकारादि वर्ण के साथ मिलकर ये वर्ण अपना निर्वाह करते हैं, आत्मलाभ प्राप्त करते हैं, इसलिए इन्हें अयोगवाह कहा जाता है।[2] भाष्यकार अनन्त ने अयोगवाह के स्थान पर योगवाह शब्द का प्रयोग किया है। इनके अनुसार ये वर्ण अकारादि वर्ण समुदाय के साथ मिलकर अपना निर्वाह करते हैं। इसलिए योगवाह कहे जाते हैं।[3] वा0प्रा0 के अनुसार जिह्वामूलीय, उपध्मानीय, अनुस्वार, विसर्जनीय, नासिक्य तथा चार यम–येनौ वर्ण अयोगवाह कहलाते हैं। ऋ0प्रा0 में आयोगवाह संज्ञा का विधान अथवा प्रयोग नहीं किया गया है। अयोगवाह वर्णों का विवेचन इस प्रकार है :–

जिह्वामूलीय :-

वा0प्रा0 के अनुसार क यह जिह्वामूलीय है।[4] उवट के अनुसार क वर्ण में ककार से पूर्व में स्थित जिह्वामूलीय को सूत्रकार ने दिखलाया है।[5] यहॉ यह उल्लेखनीय है कि सूत्र में केवल क को ही जिह्वामूलीय कहा है, किन्तु वा0प्रा0 के 3/12 से यह ज्ञात होता है कि क और ख दोनों जिह्वामूलीय है।

उपध्मानीय :-

वा0प्रा0 के अनुसार प यह उपध्मानीय है।[6] भाष्यकार उवट का कथन है

---

1. *ऋ0प्रा0 1/10*
2. *वा0प्रा0 8/25 उ0*
3. *वा0प्रा0 8/25 अ0*
4. *वा0प्रा0 8/27*
5. *वा0प्रा0 8/27 उ0*
6. *वा0प्रा0 8/28*

कि सूत्रकार ने प में पकार से पूर्व उपध्मानीय को दिखलाया है।[1] यहाँ यह उल्लेखनीय है कि सूत्र में केवल प को उपध्मानीय कहा गया है किन्तु वा०प्रा० के 3/12 से यह ज्ञात होता है कि प और फ ये दोनों उपध्मानीय है।

अनुस्वार :-

वा०प्रा० के अनुसार 'अं' यह अनुस्वार है।[2] भाष्यकार उवट का कथन है कि अं में स्वर पूर्व में है जिसके, ऐसे अनुस्वार को दिखलाया गया है।[3] ऋ०प्रा० के अनुसार भी अं वर्ण अनुस्वार है।

विसर्जनीय :-

वा०प्रा० में यह विधान किया गया है कि अः– यह विसर्जनीय है।[4] उवट के अनुसार सूत्रकार ने अः द्वारा स्वर पूर्व में है जिसके, ऐसे विसर्जनीय को दिखलाया है।[5]

नासिक्य :-

वा०प्रा० के अनुसार हॅूं – यह नासिक्य हैं।[6] ऋ०प. में इसका उल्लेख नहीं है।

यम :-

वा०प्रा० के अनुसार कुॅं, खुॅं, गुॅं, घुॅं – ये यम है।[7] ऋ०प्रा० में इन यम वर्णो को वर्णसमाम्नाय अन्तर्गत नहीं माना गया है।

ऋ०प्रा० एवं वा०प्रा० में वर्णित व्यंजनों के उपर्युक्त विभाजन को इस

---

1. *वा०प्रा० 8/28 उ०*
2. *वा०प्रा० 8/29*
3. *वा०प्रा० 8/29 उ०*
4. *वा०प्रा० 8/26*
5. *वा०प्रा० 8/26 उ०*
6. *वा०प्रा० 8/30*
7. *वा०प्रा० 8/31*

सारिणी के द्वारा प्रस्तुत किया जा रहा है :–

सारिणी

प्रातिशाख्य	व्यञ्जन								
ऋक् प्रा0	स्पर्श	अन्तस्थ	डष्म	अयोगवाह					
	क, ख, ग, घ,ङ०, च, छ, ज, झ, ञ, ट, ठ, ड, ढ, ण, त, थ, द, ध, न, प, फ, ब, भ, म,	य, र, ल, व,	ह, श, ष, स, अः, ᳵक, ᳵप, अं,	जिह्वा मूलीय	उपध्मा नीय	अनु स्वार	विसर्ज नीय	नासिक्य	यम
वा0 प्रा0	क, ख, ग, घ,ङ०, च, छ, ज, झ, ञ, ट, ठ, ड, ढ, ण, त, थ, द, ध, न, प, फ, ब, भ, म,	य, र, ल, व,	श, ष, स, ह,	ᳵक	ᳵप,	अं	अः	हुँ	कुँ खुँ गुँ घुँ

वर्णराशि के उपर्युक्त विभाजन से स्पष्ट होता है कि दोनों प्रातिशाख्यों में वर्णराशि का विभाजन दो भागों में किया गया है– स्वरवर्ण तथा व्यञ्जनवर्ण। दोनों प्रातिशाख्यों में पुनः स्वरवर्णों तथा व्यञ्जनवर्णों को कई विभागों में विभक्त किया गया है। इस विभाजन में दोनों प्रातिशाख्यों में केवल स्पर्श तथा अन्तस्थ वर्ण के विषय में समानता है। वर्णराशि के विभाजन में दोनों में वैषम्य भी है, जो इस प्रकार है –

(1) वा0प्रा0 में जिह्वामूलीय, उपध्मानीय, अनुस्वार, विसर्जनीय, नासिक्य तथा चार यम इन नौ वर्णों को अयोगवाह के अन्तर्गत रखा गया है। किन्तु ऋ0प्रा0 में अयोगवाह संज्ञा का प्रयोग नहीं किया गया है।

(2) वा0प्रा0 में 23 स्वर 42 व्यञ्जन माने गये हैं, किन्तु ऋ0प्रा0 14 स्वर एवं 37 व्यञ्जन माने गये हैं।

(3) ऋ0प्रा0 इन व्यञ्जनों को स्पर्श, अन्तस्थ एवं ऊष्म इन तीन भागों में विभाजित किया गया है किन्तु वा0प्रा0 में स्पर्श, अन्तस्थ, ऊष्म एवं अयोगवाह इन चार भागों में विभाजित किया गया है।

(4) वा0प्रा0 में श्, ष्, स्, एवं ह् इन चार वर्णों को ऊष्म वर्ण माना गया है, किन्तु ऋ0प्रा0 में ह्, श्, ष्, स्, अः, क, प एवं अं इन आठ वर्णों को ऊष्म वर्ण माना गया है।

(5) वा0प्रा0 में जिह्वामूलीय, उपध्मानीय, अनुस्वार एवं विसर्जनीय वर्णों को अयोगवाह के अन्तर्गत माना गया है, किन्तु ऋ0प्रा0 में इन वर्णों को ऊष्म वर्ण के अन्तर्गत माना गया है।

(6) ऋ0प्रा0 में वर्णसमाम्नाय में नासिक्य एवं यम–वर्णों का उल्लेख नहीं है। किन्तु वा0प्रा0 में अयोगवाह व्यञ्जनों के अन्तर्गत नासिक्य एवं यम–वर्णों का ग्रहण हुआ है।

अक्षर विभाजन :-

अक्षर विभाजन का प्रयोजन :-

स्वर वैदिक भाषा की एक प्रमुख विशेषता है। वैदिक मंत्रों के प्रत्येक अक्षर उदात्त, अनुदात्त, स्वरित तथा प्रचय इन चार प्रकारों के स्वरों के युक्त होते हैं। ये उदात्तादि स्वर अकारादि स्वरवर्णों के धर्म हैं। वैसे मंत्रों में प्रयुक्त अक्षरों के सभी वर्णों का उच्चारण किसी न किसी स्वर में अवश्य होता है, किन्तु व्यञ्जन वर्णों का अपना कोई स्वर नहीं होता। जब व्यञ्जन–वर्णों का अपना कोई स्वर नहीं होता, तब यहाँ प्रश्न उठता है कि क्यों व्यञ्जनों का उच्चारण स्वर रहित होता है? इस प्रश्न का उत्तर वा0 प्रा0 के इस विधान से स्पष्ट होता है कि "जो व्यञ्जन जिस स्वर–वर्ण का अंग होता है, उसी के समान स्वर से उच्चारित होता है।[1] इससे यह ज्ञात होता है कि व्यञ्जन वर्ण स्वर रहित नहीं उच्चारित होते, अपितु उनका उच्चारण उनके अंगी स्वर वर्ण के समान स्वर से होता है। कौन सा व्यञ्जन किस स्वरवर्ण का अंग है? जिसके समान स्वर में उसका उच्चारण

---

1. *वा0प्रा0 1/27*

किया जाय – इसका ज्ञान अक्षर विभाजन द्वारा ही सम्भव है।

इससे स्पष्ट होता है कि वेदमन्त्रों के उच्चारण में स्वर विषयक शुद्धता की दृष्टि से अक्षर–विभाजन का ज्ञान अत्यावश्यक है, क्योंकि इसमें इस तथ्य पर विचार किया गया है कि कौन सा व्यञ्जन किस स्वर वर्ण का अंग होता है, जिसके समान स्वर से उस व्यंजन का उच्चारण किया जाय। इसलिए सभी प्रातिशाख्यों में अक्षर विभाजन का विवेचन किया गया है।

अक्षर का लक्षण :-

अक्षर[1] शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में हुआ है। इसलिए अक्षर शब्द का निर्वचन भी अनेक प्रकार से किया जाता है। प्रस्तुत प्रसंग में अक्षर शब्द का प्रयोग Syllable के अर्थ में किया जा रहा है। तै0प्रा0 के वैदिकाभरण भाष्य में अक्षर शब्द का निर्वचन करते हुए कहा गया है कि ''जो दूसरे का आधीन बनकर नहीं चलता है, वह अक्षर है।''[2] अर्थात् अक्षर वह है, जिसकी स्वतंत्र सत्ता हो। ऋ0प्रा0 में अक्षर–संज्ञा का विधान करते हुए कहा गया है कि (1) ह्रस्व और दीर्घ' ये दोनों स्वरवर्ण अक्षर हैं।[3] (2) 'व्यञ्जन सहित' अथवा 'अनुस्वार सहित' अथवा व्यञ्जन रहित व अनुस्वार रहित भी स्वर वर्ण अक्षर संज्ञक होता है।[4] (3) अनुस्वार और व्यञ्जन अक्षर के अंग हैं।[5] वैसे अक्षर शब्द की बहुत सी परिभाषाएँ की गयी हैं, किन्तु इसकी सर्वग्राह्य परिभाषा प्रस्तुत करना बहुत कठिन है। अक्षर के सन्दर्भ में यह कहा जा सकता है कि उच्चारण की दृष्टि से अक्षर एक अथवा एक से अधिक वर्णों की एक इकाई है, जिसका उच्चारण वायु के एक झटके के साथ

---

1. अक्षर संज्ञा को संज्ञा तथा परिभाषा प्रकरण में कहा जा चुका है।
2. तै0प्रा0 1/2 वैदिकाभरण भाष्य
3. ऋ0प्रा0 1/19 (उभयेत्वक्षराणि)
4. ऋ0प्रा0 18/32 (सव्यञ्जनः सानुस्वारः शुद्धोवापि स्वरोऽक्षरम्)
5. ऋ0प्रा0 1/22 (अनुस्वारो व्यञ्जनं चाक्षरायंम!)

होता है। यह इकाई अपने में स्वतंत्र होती है। जिससे वह किसी दूसरी ध्वनि का अंग नहीं होती।

अक्षर का प्रमुख तत्त्व :-

अक्षर के प्रमुख तत्त्व स्वर वर्ण है, क्योंकि स्वरवर्णों का उच्चारण बिना किसी अन्य् वर्ण की सहायता से होता है। व्यञ्जन—वर्णों का उच्चारण स्वर वर्णों के बिना सम्भव नहीं है। इसलिए प्रातिशाख्य एवं शिक्षा ग्रन्थों में व्यञ्जन की अपेक्षा स्वर वर्णों को विशिष्ट बतलाया गया है। भाष्यकार उवट ने स्वरों के वैशिष्ट्य बतलाते हुए कहा है कि ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत, सानुनासिक, निरनुनासिक, उदात्त, अनुदात्त और स्वरित ये आठ स्वर वर्णों के ही धर्म हैं।[1]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि स्वर—वर्णों को व्यञ्जन वर्णों की अपेक्षा विशिष्ट माने जाने का कारण ये है —

(1) स्वर वर्णों का उच्चारण बिना किसी अन्य वर्ण की सहायता से होता है ये निरपेक्ष है।

(2) व्यञ्जन—वर्णों का उच्चारण स्वर वर्णों के बिना सम्भव नहीं है।

(3) उदात्तादि धर्म स्वर वर्णों के ही होते हैं।

अक्षर के प्रकार :-

अक्षर दो प्रकार के होते हैं — (1) गुरू तथा (2) लघु।

गुरू :-

वा0प्रा. में गुरू संज्ञा का प्रयोग तो नहीं किया गया है किन्तु यह कहा गया है कि संयोग—पूर्व, व्यञ्जनान्त तथा अवसानस्थ ह्रस्व स्वर भी दो मात्रा काल वाले होते हैं।[2] यथा संयोगपूर्व अग्नि (वा023/16)। यहॉ दो गकार और नकार

---

1. *वा0प्रा0 3/31 उ0*
2. *वा0प्रा0 4/107*

संयुक्त व्यञ्जन है। अतः इनसे पूर्ववर्ती ह्रस्व स्वर वर्ण अकार दो मात्रा काल वाला है। व्यञ्जनान्त – दध्यङ् (वा० 11/33), यहाँ व्यंजनान्त होने के कारण ङकार से पूर्ववर्ती ह्रस्व अकार दो मात्रा काल वाला है।

ऋ०प्रा० के अनुसार दीर्घ स्वर–वर्ण गुरू है[1] और अनुस्वार वे ह्रस्व स्वर–वर्ण भी गुरू है। जिनके परे संयुक्त व्यञ्जन हो या अनुस्वार हो।[2] ऋ०प्रा० के अष्टादश पटल में गुरू संज्ञा के विषय में कहा गया है कि दीर्घ अक्षर गुरू संज्ञक होता है।[3]

लघु :-

ऋ०प्रा० के प्रथम पटल में लघु संज्ञा का विधान नहीं किया गया है, किन्तु भाष्यकार उवट ने कहा है 'शेष होने से'[4] और व्यवहार दिखलाई पडने से गुरू–संज्ञक अक्षरों से अन्य 'अक्षर' लघु संज्ञक है।[5] ऋ०प्रा० के अष्टादश पटल में लघु संज्ञा के विषय में कहा गया है कि ह्रस्व अक्षर लघु होता है, यदि उसके बाद में संयुक्त वर्ण अथवा अनुस्वार न हो''[6] और व्यंजन सहित ह्रस्व अक्षर भी लघु होता है।[7]

अक्षर विभाजन के नियम :-

जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है कि स्वर वर्ण अक्षर के प्रमुख तत्त्व हैं। अक्षरों की गणना स्वरवर्णों के द्वारा की जाती है। किसी पद या वाक्य में जितने स्वर होते हैं, उसमें उतने ही अक्षर होते हैं। अक्षर में व्यञ्जन स्वर वर्ण के अंग

---

1. *ऋ०प्रा० 1/20*
2. *ऋ०प्रा० 1/21*
3. *ऋ०प्रा० 18/37, 41*
4. *ऋ०प्रा० 1/21 उ०*
5. *ऋ०प्रा० 2/35 उ०*
6. *ऋ०प्रा० 18/38–39*
7. *ऋ०प्रा० 18/43*

के रूप में मिले होते हैं। अक्षर–विभाजन में पद या वाक्य के प्रत्येक स्वरवर्ण को उसके अंगभूत व्यञ्जन के साथ अलग किया जाता है। इस सन्दर्भ में कौन सा व्यञ्जन किस स्वर–वर्ण का अंग है यह निर्धारण करना अत्यन्त कठिन है। अतः सभी प्रातिशाख्यों में इसका विधान किया गया है। यहाँ वा०प्रा० तथा ऋ०प्रा० में विहित विधानों का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया जा रहा है :–

ऋ०प्रा० में विहित अक्षर-विभाजन के नियम :-

(1) 'अनुस्वार और व्यञ्जन' स्वर–वर्ण (अक्षर) के अंग होते हैं,[1] अर्थात् जहॉ एक स्वर–वर्ण (अक्षर) होता है और एक या अधिक व्यञ्जन होते हैं वे उसी स्वर–वर्ण के अंग होते हैं। यथा – ''र्क''[2] यहॉ वकार, रेफ और ककार अकार के अंग हैं।

(2) दो स्वर–वर्ण के मध्य में विद्यमान 'व्यञ्जन' बाद वाले स्वर–वर्ण के अंग होते हैं, किन्तु अन्तिम 'व्यञ्जन' पूर्ववर्ती स्वर–वर्ण का अंग होता है।[3] यथा– (1) अयम्।[4] यहॉ अयान् शब्द के अन्तोदान्त होने से यकार 'उदात्त' के समान सुना जाता है। (2) अयं देवाय जन्मने।[5] यहाँ दे के एकार के अनुदात्त होने से दकार अनुदात्त के समान सुना जाता है। (3) गायेन्ति त्वा।[6] यहॉ 'य' के 'अ' के स्वरित होने से यकार स्वरित के समान सुना जाता है।

(3) संयोग का प्रथम वर्ण दो स्वर–वर्णों के मध्य में होने पर विकल्प से पूर्ववर्ती स्वर–वर्ण (अक्षर) का अथवा परवर्ती स्वर–वर्ण का अंग होता है।[7] यथा– ''आ त्वा रथेम्''।[8] यहॉ दो तकारों और वकार का संयोग है। उनमें द्वित्व

1. अनुस्वारो व्यञ्जनं चाक्षरांगम्। ऋ०प्रा०

2. ऋ०प्रा० 1/63/7 3. ऋ०प्रा० 2/23, 18/33 4. ऋ०प्रा०1/20/1

5. ऋ०प्रा० 1/20/1, 6. ऋ०प्रा० 1/.10/1

7. ऋ०प्रा० 1/25, 18/35 8. ऋ०प्रा० 8/68/1

(क्रम) से उत्पन्न प्रथम तकार पूर्ववर्ती स्वर–वर्ण का अंग है और उस पूर्ववर्ती स्वर–वर्ण के उदात्त होने से प्रथम तकार उदात्त के समान सुना जाता है। संयोग का प्रथम वर्ण अर्थात् द्वितीय तकार पूर्ववर्ती उदात्त स्वर–वर्ण का अंग होता है या परवर्ती अनुदात्त स्वर–वर्ण के उदात्त के समान सुना जाता है या अनुदात्त के समान। वकार द्वितीय स्वर–वर्ण का अंग है और उस द्वितीय स्वर–वर्ण के अनुदात्त होने से अनुदात्त के समान सुना जाता है।

(4) जब संयोग के दूसरे व्यंजन का द्वित्व हो तब दो व्यंजन द्वित्व को प्राप्त होने वाला वर्ण और द्वित्व के परिणाम स्वरूप उत्पन्न होने वाला नया वर्ण–पूर्ववर्ती स्वर–वर्ण के अंग होते हैं।[1] या परवर्ती स्वर वर्ण के अंग होते हैं।1 यथा– ''आर्त्नी'1 इमें''[2] यहॉ रेफ, दो तकारों और नकार का संयोग है। उनमें से स्वरभक्ति सहित रेफ पूर्ववर्ती स्वर–वर्ण का अंग है और उस पूर्ववर्ती स्वर–वर्ण के उदात्त होने से स्वरभक्ति सहित रेफ भी उदात्त के समान सुना जाता है। द्वित्व से उत्पन्न तकार और संयोग का प्रथम तकार – ये दो वर्ण पूर्ववर्ती 'स्वर–वर्ण' (आ) या परवर्ती स्वर–वर्ण (ई) के अंग होते हैं। नकार परवर्ती स्वर–वर्ण 'स्वरित' होने से नकार भी स्वरित के समान सुना जाता है।

वा०प्रा० में विहित अक्षर-विभाजन के नियम :-

(1) वा०प्रा० के अनुसार अवसान में स्थित पदान्तीय व्यञ्जन अपने पूर्ववर्ती स्वरवर्ण का अंग होता है।[3] यथा – वषट्, वाक्, यहॉ प्रथम उदाहरण में अवसानस्थ पदान्तीय व्यञ्जन टकार तथा द्वितीय उदाहरण में ककार

---

1. ऋ०प्रा० एक परिशीलीन, डॉ० वीरेन्द्र कुमार वर्मा, ध्वनि प्रकरण, पृ० 873
2. वही पृ० 87
3. अवसितं च – वा०प्रा० 1/106

अपने पूर्ववर्ती स्वरवर्ण क्रमशः अकार तथा आकार के अंग हैं। ये व्यंजन अक्षर–विभाजन में अपने पूर्ववर्ती स्वर–वर्ण के साथ रहते हैं। इस प्रकार इनका अक्षर–विभाजन क्रमशः व/ षट्/ तथा वाक् इस रूप में होता है।

(2) वा0प्रा. में यह विधान किया गया है कि संयुक्त व्यञ्जनों का प्रथम व्यञ्जन अपने पूर्ववर्ती स्वर वर्ण का अंग होता है।[1] तात्पर्य यह है कि अक्षर विभाजन में संयुक्त व्यञ्जनों का प्रथम (संयोगादि) व्यञ्जन अपने पूर्ववर्ती स्वरवर्ण के साथ रहता है। यथा– अश्श्वः। इस उदाहरण में दो शकार तथा वकार संयुक्त व्यञ्जन हैं। इसमें संयोगादि व्यञ्जन प्रथम शकार है। प्रस्तुत विधान के अनुसार यह अपने पूर्ववर्ती स्वर वर्ण अकार का अंग है। इस का अक्षर विभाजन – अश्। श्वः इस रूप में होता है।

(3) वा0प्रा0 के अनुसार यम पूर्ववर्ती स्वरवर्ण का अंग होता है। अर्थात् 'यम्' अपने पूर्ववर्ती वर्ण के सहित पूर्व स्वर का अंग होता है।[2] यथा– रुक्क्मम्।'' प्रस्तुत उदाहरण में दो ककार यम एवं मकार का संयोग है। इनमें प्रथम ककार और यम् पूर्ववर्ती उकार के अंग हैं।

(4) वा0प्रा0 के अनुसार द्वित्व (क्रम) से उत्पन्न व्यञ्जन (क्रमज) पूर्ववर्ती स्वरवर्ण का अंग होता है।[3] तात्पर्य यह है कि अक्षर–विभाजन में क्रमज अपने पूर्ववर्ती स्वर वर्ण के साथ रहता है, यथा– पाश्र्व्यम्। यहाँ रेफ दो शकार तथा वकार संयुक्त व्यञ्जन हैं। रेफ वा0प्रा0 1/104 के अनुसार स्वर से परवर्ती संयोगादि होने के कारण तथा प्रथम शकार क्रमज होने के कारण प्रस्तुत विधान के अनुसार पूर्ववर्ती स्वरवर्ण आकार के अंग हैं। अतः

---

1. संयोगादिपूर्वस्य – वा0प्रा0 1/102

2. यमश्च वा0प्रा0 1/10–3

3. क्रमज च – वा0प्रा0 1/104

इसका अक्षर विभाजन पार्श। श्व्यम्– इस रूप में होता है।

(5) वा0प्रा0 में यह विधान किया गया है कि स्पर्श बाद में होने पर द्वित्व (क्रम) से उत्पन्न व्यञ्जन (क्रमज) से परवर्ती व्यञ्जन भी पूर्ववर्ती स्वरवर्ण का अंग होता है।[1] यथा – अग्ग्निम् (वा0 23/16)। इस उदाहरण में दो गकार तथा नकार संयुक्त व्यंजन है, जिसमें प्रथम गकार क्रमज है। क्रमज (गकार) से परवर्ती व्यञ्जन (द्वितीय गकार) के बाद में स्पर्श नकार है। यहाँ प्रथम गकार क्रमज होने के कारण वा0प्रा. 1/104 से तथा द्वितीय गकार प्रस्तुत विधान के अनुसार पूर्ववर्ती स्वरवर्ण अकार के अंग है। अतः इसका अक्षर विभाजन अग्ग्। निम् – इस रूप में होता है।

भाष्यकार उवट ने प्रस्तुत सूत्र में पाष्ण्र्या (वा0 25/40) को उद्धृत किया है। इस उदाहरण को समझाते हुए भाष्यकार उवट का कथन है कि 'पाष्ण्र्या' इस उदाहरण में रेफ, षकार, दो णकार तथा यकार संयुक्त व्यञ्जन हैं, जिसमें रेफ संयोगादि होने के कारण वा0प्रा0 1/101 से षकार क्रमज होने के कारण वा0प्रा0 1/104 तथा प्रथम णकार प्रस्तुत विधान के अनुसार पूर्ववर्ती स्वरवर्ण के अंग हैं और द्वितीय णकार तथा यकार परवर्ती स्वरवर्ण के अंग हैं।[2] इस प्रकार इसका अक्षर विभाजन पार्ष्णाण्या होगा, किन्तु यह उदाहरण उचित प्रतीत नहीं होता। क्योंकि भाष्यकार ने षकार को क्रमज कहा है। उदाहरण में षकार क्रमज नहीं, अपितु प्रथम णकार क्रमज है। अतः क्रमज होने के कारण प्रथम णकार के पूर्ववर्ती स्वर–वर्ण का अंगत्व वा0प्र. 1/104 से ही प्राप्त है। इस उदाहरण में क्रमज प्रथम णकार से परवर्ती व्यञ्जन (द्वितीय णकार) का भी पूर्ववर्ती स्वरवर्ण के अंग होने के लिए उस व्यञ्जन के बाद में स्पर्श होना चाहिए, किन्तु यहाँ द्वितीय णकार के

---

1. वा0प्रा0 1/105
2. वा0प्रा0 1/105 उ0

बाद में स्पर्श नहीं, अपितु अन्तस्थ (यकार) है।

प्रस्तुत विधान के प्रसंग में भाष्यकार द्वारा उद्धृत उदाहरण 'पाष्ण्र्या'1 के रूप में ग्रहण कर लिया जाय तो इसकी संगति हो जाती है, क्योंकि रेफ दो षकार, णकार तथा यकार संयुक्त व्यञ्जन है। इन संयुक्त व्यञ्जनों में रेफ संयोगादि होने के कारण वा0प्रा0 1/101 से, प्रथम षकार क्रमज होने के कारण वा0प्रा0 1/104 से तथा द्वितीय षकार स्पर्श णकार बाद में होने के कारण प्रस्तुत विधान वा0प्रा0 1/105 से पूर्ववर्ती स्वरवर्ण के अंग होंगे। इस प्रकार इसका अक्षर–विभाजन पार्ष्षाण्या– इस रूप में होगा।

1. विधान के अनुसार पाष्ण्यी रूप प्राप्त होता है। पाष्ण्ण्यी नहीं, क्योंकि वा0प्रा0 4/100 में यह विधान किया गया है कि रेफ तथा हकार से परवर्ती व्यञ्जन द्वित्व को प्राप्त करता है। अतः रेफ से परवर्ती व्यञ्जन षकार का द्वित्व होकर पाष्ण्र्या रूप ही निष्पन्न होता है। यहाँ यह शंका हो सकती है कि वा0प्रा0 4/101 के विधान ऊष्म और अन्तस्थ वर्णों से परवर्ती स्पर्श द्वित्व को प्राप्त करता है। इसके अनुसार षकार से परवर्ती स्पर्श णकार का द्वित्व होकर पाष्ण्ण्र्या यह रूप बनना चाहिए, किन्तु ऐसी बात नहीं है, क्योंकि वा0प्रा0 4/104 में यह विधान किया गया है कि स्वर पूर्व में न होने पर ऊष्म तथा अन्तस्थ अपने परवर्ती स्पर्श का द्वित्व नहीं कराते हैं। अतः षकार के पूर्व में स्वर न होने (रेफ होने) के कारण अपने परवर्ती स्पर्श णकार के द्वित्व की प्राप्ति नहीं कराता।

दोनो प्रातिशाख्यों में प्रतिपादित उपर्युक्त अक्षर विभाजन सम्बन्धी नियमों के अनुशीलन से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि दोनों प्रतिशाख्यों के द्वारा विहित अक्षर–विभाजन सम्बन्धी नियमों में समानता एवं विषमता दोनों विद्यमान है।

पदान्तीय व्यञ्जन के अक्षर विभाजन विषय में दोनों प्रतिशाख्यों द्वारा अपने–अपने पक्ष को प्रस्तुत किया गया है; जो द्रष्टब्य है –

वा0प्रा0 के अनुसार "अवसान में स्थित पदान्तीय व्यंजन अपने पूर्ववर्ती स्वरवर्ण का अंग होता है।[1] ऋ0प्रा0 में भी इसी बात का उल्लेख है कि "अन्तिम व्यञ्जन पूर्ववर्ती स्वरवर्ण का अंग होता है।"[2]

संयोगादि व्यञ्जनों का अक्षर विभाजन के विषय में वा0प्रा0 में उल्लेख है कि "संयुक्त व्यञ्जनों का प्रथम व्यञ्जन अपने पूर्ववर्ती स्वरवर्ण का अंग होता है।"[3] ऋ0प्रा0 में भी इस विषय में कहा गया है कि "संयोग का प्रथम वर्ण दो स्वर वर्ण के मध्य में होने पर विकल्प से पूर्ववर्ती स्वर वर्ण का अंग होता है, अर्थात् अपर पक्ष में परवर्ती स्वर वर्ण का अंग होता है।"[4] यहाँ ध्यातब्य है कि वा0प्रा0 में संयुक्त व्यञ्जनों को पूर्ववर्ती स्वर वर्ण का अंग बतलाया गया है, किन्तु ऋ0प्रा0 में इस (संयुक्त व्यञ्जनों) को पूर्ववर्ती स्वर–वर्ण अथवा परवर्ती स्वर वर्ण का अंग बतलाया गया है और यह विकल्प विधान तभी सम्भव है जब संयोग का प्रथम वर्ण दो स्वर–वर्णों के मध्य में हो। पुनः ऋ0प्रा0 में उल्लेख है कि "जब संयोग के दूसरे व्यञ्जन द्वित्व हो तब दो व्यञ्जन, द्वित्व को प्राप्त होने वाला वर्ण और द्वित्व के परिणाम स्वरूप उत्पन्न होने वाला नया वर्ण– पूर्ववर्ती स्वर–वर्ण के या परवर्ती स्वर–वर्ण के अंग होते हैं।[5] वा0प्रा0 में कहा गया है कि स्पर्श बाद में होने पर द्वित्व से उत्पन्न व्यञ्जन से परवर्ती व्यञ्जन भी पूर्ववर्ती स्वर वर्ण का अंग होता है।[6]

अनुस्वार तथा स्वरभक्ति का अक्षर–विभाजन के विषय में यद्यपि विस्तृत

---

1. *वा0प्रा0 1/106*
2. *ऋ0प्रा0 1/23, 18/33*
3. *वा0प्रा0 1/102*
4. *ऋ0प्रा0 1/25, 18/35*
5. *ऋ0प्रा0 1/26, 18/36*
6. *वा0प्रा0 1/105*

वर्णन नहीं है तथापि सामान्य रूप से उल्लेख प्राप्त है। ऋ०प्रा० में अनुस्वार को स्वर वर्ण का अंग माना गया है।"[1] किन्तु वा०प्रा० में इस विषय में स्पष्टोल्लेख नहीं है। स्वरभक्ति के विषय में ऋ०प्रा० में यद्यपि स्पष्टोल्लेख नहीं है। तथापि 'आर्त्नी' इमे"[2] इस उदाहरण के प्रसंग में कहा गया है कि "स्वर भक्ति सहित रेफ पूर्ववर्ती स्वर वर्ण का अंग है और उस पूर्ववर्ती स्वर वर्ण के उदात्त होने से स्वरभक्ति सहित रेफ भी उदात्त के समान सुना जाता है।

यम का अक्षर विभाजन के विषय में वा०प्रा० में उल्लेख है[3] किन्तु ऋ०प्रा० में इस विषय में उल्लेख नहीं है।

क्रमज का अक्षर विभाजन के विषय में वा०प्रा० में विधान किया गया है कि द्वित्व क्रम से उत्पन्न व्यञ्जन पूर्ववर्ती स्वर वर्ण का अंग होता है।" इस विषय में ऋ०प्रा० में स्पष्ट उल्लेख नहीं है, किन्तु "आ त्त्वा रथम्।"[4] इस उदाहरण से स्पष्ट है कि "द्वित्व क्रम से उत्पन्न प्रथम तकार पूर्ववर्ती स्वर वर्ण का अंग है और उस पूर्ववर्ती स्वर–वर्ण के उदात्त होने से प्रथम तकार उदात्त के समान सुना जाता है। संयोग का प्रथम वर्ण (द्वितीय तकार) पूर्ववर्ती उदात्त स्वर वर्ण का अंग होता है। इसी प्रकार अक्षर विभाजन के विषय में दोनों प्रतिशाख्यों में उल्लेख किया गया है।

---

1. *अनुस्वारों व्यंजना चाक्षरांगम् – ऋ०प्रा०*
2. *ऋ०प्रा० 6/75/4*
3. *वा० प्रा० 1/10–3*
4. *ऋ०प्रा० 8/68/1*

तृतीय अध्याय
वर्णोच्चारण प्रकरण

तृतीय अध्याय
वर्णोच्चारण प्रकरण

भारतीय वैदिक परम्परा में उच्चारण की शुद्धता पर विशेष ध्यान दिया जाता है। ऋषि–मुनियों ने अपने ओजस्वी तथा शुद्ध उच्चारण द्वारा शिष्यों को शिक्षा प्रदान किया। शिष्यगण गुरुओं के शुद्ध उच्चारण को आत्मसात् कर उसके अनुसार उच्चारण करते थे। इस अध्ययन की परम्परा में श्रवण तथा तन्मूलक तदनुसारी उच्चारण की मुख्यता है। अतएव वेद के लिए 'श्रुति' शब्द भी प्रसिद्ध है। भारत में प्राचीन काल में तथा आज भी वैदिक मूलाक्षरों के उच्चारण की शिक्षा में गुरुमुखोच्चारण पूर्वक शिष्य का तदनुकूल उच्चारण रूप अध्ययन प्रचलित है।[1] सदा गुरु लोग मन्त्रों के उच्चारण के शिष्य कृत अनुकरण में यह ध्यान रखते थे कि शिष्य सम्प्रदाय के अनुसार शुद्ध उच्चारण कर रहा है या नहीं, क्योंकि मन्त्रों के अशुद्ध उच्चारण होने पर इष्ट सिद्धि के प्रत्रिरूप अनिष्ट सिद्धि होती है।

वर्णों के अशुद्ध उच्चारण से किस प्रकार अर्थ का अनर्थ हो जाता है यह बतलाते हुए पाणिनीय शिक्षाा में कहा गया है कि 'स्वर' अथवा वर्ण की दृष्टि से दोषयुक्त शब्द मिथ्या उच्चारित होने के कारण अभीष्ट अर्थ का कथन नहीं करता। वह तो वाग्वज्र बनकर यजमान का ही नाश कर देता है, जिस प्रकार स्वर के अपराध से इन्दशत्रुः शब्द यजमान का ही विनाशक सिद्ध हुआ।[2]

महाभाष्यकार पंतञ्जलि के अनुसार असुर लोग 'हे अरयोऽरयः" के स्थान पर "हेलयो हेलयः" यह अशुद्ध उच्चारण करके पराजित हो गये। इसलिए ब्राह्मण को अपशब्दों का प्रयोग नहीं करना चाहिए।[3]

---

1. *वेदाध्ययनं सर्वं गुर्वध्ययनपूर्वकम्।*
   वेदाध्ययन सामान्यादधुनाध्ययन यथा।। मी०म्या० प्रकाश
2. *पा० शिक्षा – 52*
3. *मा०भा० पृ० – 18, द्रष्टव्य 'ऋग्वेद प्रातिशाख्य एक परिशीलन, वर्मा, पृ०18*

महाभाष्यकार पतञ्जलि ने शब्दों के शुद्ध तथा अशुद्ध उच्चारणों के परिणामों को बतलाते हुए कहा है कि जो कुशल व्यवहार के समय शब्दों का ठीक–ठीक प्रयोग करता है वह वाक्योगवित् (वाणी के योग को जानने वाला) इस लोक में विजय तथा परलोक में अनन्त फल को प्राप्त करता है। इसके विपरीत वाणी के योग को न जानने वाला व्यक्ति अपशब्दों के प्रयोग से दूषित (पाप का भागी) होता है।[1]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि वर्णों के शुद्ध उच्चारण का अत्यधिक महत्त्व है। इसलिए सभी प्रातिशाख्यों में वर्णोच्चारण सम्बन्धी नियमों का विधान किया गया है।

वा0प्रा0 में प्रथम अध्याय के लगभग 66 सूत्रों (1/5–15, 30–84, 158) तथा चतुर्थ अध्याय के आठ सूत्रों 4/1/144–146, 148–151) में वर्णोच्चारण से सम्बन्धित नियमों का उल्लेख किया गया है। ऋ0प्रा0 में भी उच्चारण–दोष पटल में वर्णोच्चारण से सम्बन्धित नियमों का विस्तृत विवेचन किया गया है। दोनों प्रतिशाख्यों में विवेचित वर्णोच्चारण के नियमों को तथा उपादेयता के विषय में एक तुलनात्मक अध्ययन यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

उच्चारण अवयवों का परिचय :-

वर्णोच्चारण विषयक सूत्रों के सम्यक् ज्ञान के लिए यह आवश्यक है कि वर्णोच्चारण के उपयोग में आने वाले शरीरावयवों की रचना और क्रिया का ज्ञान हो। इसलिए यहाँ उच्चारण अवयवों को संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है। यथा –

(१) फेफड़े :-

मनुष्य के शरीर में श्वास–क्रिया में जब वायु नासिका द्वारा फेफड़ों में प्रवेश

---

1. म0भा0 पृ020

करती है तब फेफड़े फूल जाते हैं। थोड़ी देर बाद वह वायु नासिका विवर से होकर बाहर निकलती है। इस दूषित वायु को जब नासिका के साथ–साथ मुख से भी निकालते हैं तो ध्वनि की उत्पत्तिं होती है। इस प्रकार ध्वनि की उत्पत्ति में फेफड़ों का प्रत्यक्ष उपयोग नहीं होता है। किन्तु वही मूल स्थान है जहाँ से निकलने वाली वायु का उपयोग ध्वनि की उत्पत्ति के लिए किया जाता है।

(२) स्वरतंत्र तथा श्वास-नलिका :-

वायु नासिका विवर से होकर श्वास–नलिका में जाती है एवं श्वास–नलिका से होकर फेफड़े में पहुँचती है। पुनः इसी मार्ग से बाहर निकलती है। श्वास नलिका गले में स्थित रहती है। इस श्वास–नलिका के ऊपरी भाग में स्वर यन्त्र होते हैं। स्वर–यंत्र में पतली झिल्ली के बने दो लचीले पर्दे होते हैं, जिन्हें स्वर–तन्त्री कहते हैं। इन स्वर तन्त्रियों के बीच खुले हुए भाग के स्वर–यंत्र मुख कहते हैं। वायु इसी स्वर–यंत्र मुख से होकर भीतर अथवा बाहर जाती है।

(३) मुख :-

ध्वनियों की उत्पत्ति में मुख अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसी मुख में जिह्वा, तालु, ओष्ठ तथा दन्त आदि उच्चारण के अवयव स्थित हैं।

(४) जिह्वा :-

यह एक महत्त्वपूर्ण कोमल उच्चारणावयव है। यह विभिन्न आकारों वाली वायु को धारण कर बाहर निकालने वाली वायु को अनेक प्रकार से विकृत करती है। जिससे विविध ध्वनियाँ उत्पन्न होती हैं। उच्चारण की विविधता की दृष्टि से जिह्वा को पाँच भागों में विभक्त किया गया है। – (1) मूल (2) पश्च (3) मध्य (4) अग्र और (5) नोक।

(५) तालु :-

मुख–विवर और नासिका विवर के मध्य में एक अर्ध गोलाकार छत होती

है। जिसे तालु कहा जाता है। इसको दो भागों में विभक्त किया जा सकता है।

(1) कोमल तालु – अन्दर की ओर।

(2) कठोर तालु – बाहर की ओर।

कठोर तालु को पुनः तीन भागों में विभक्त किया जाता है :–

(1) बर्स्व (मसूढ़ा) – दॉतों के पीछे उभरा प्रदेश।

(2) सामान्य तालु

(3) मूर्धा – मुख छत का सबसे ऊपर वाला भाग।

कोमल तुाल के अन्तिम भाग को अलिजिह्वा (कौवा) कहा जाता है। यह तीन अवस्थाये धारण करता है –

पहली अवस्था :–

बिल्कुल ढ़ीला होकर गिरा रहता है, जिससे मुख–विवर एवं श्वास–नलिका के बीच स्थित सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है और सारी वायु नासिका–विवर से आती जाती है।

दूसरी अवस्था :–

तनकर खड़ा हो जाता है, जिससे नासिका–विवर तथा श्वास–नलिका में सम्बन्ध विच्छेद होता है और सारी वायु मुख–विवर से आती जाती है।

तीसरी अवस्था :–

मध्यम अवस्था में रहता है, जिससे कुछ वायु मुख विवर से और कुछ वायु नासिका विवर से आती–जाती है।

(६) ओष्ठ :-

वाग्यन्त्र के विभिन्न अवयवों में ओष्ठ वहिःस्ल अवयव है। ऊपर नीचे दो ओष्ठ होते हैं जो विभिन्न अवस्थाओं द्वारा विभिन्न ध्वनियों की उत्पत्ति में सहायक होते हैं। ऊपर और नीचे के ओष्ठों में नीचे का ओष्ठ अधिक क्रियाशील होता है।

(७) दन्त :-

मुख–विवर में ऊपर–नीचे दॉंतों की दो पंक्तियॉ है। ध्वनियों के उच्चारण में दाँतो की भी महत्वपूर्ण भूमिका है।

वर्णोच्चारण में वायु की उपादेयता :-

ऋ०प्रा० में वर्णों की उत्पत्ति के विषय में अनेक उल्लेखनीय बातें कही गयी हैं। ऋ०प्रा० के अनुसार सभी वर्णों का आधार वायु है।[1] बिगुल तथा अन्य वाद्य–यन्त्रों की भॉति मनुष्य भी वायु की सहायता से वर्णों को उत्पन्न करता है। ऋ०प्रा० में कहा गया है कि फेफड़े से बाहर निकलती हुई प्राणवायु ही वर्णों की उत्पत्ति का मूल कारण है।[2]

वा०प्रा० में वायु की उपादेयता के विषय में कहा गया है कि "शब्द का कारण वायु है" और वह वायु आकाश से उत्पन्न होता है।[3] वा०प्रा० के 1/7 पर भाष्य करते हुए उवट का कथन है कि शब्द वायु स्वरूप ही है। ध्यातब्य है कि यदि शब्द वाय्वात्मक है तो वायु के सर्वत्र गतिशील होने से सभी समय एवं सभी स्थान में शब्दों की उपलब्धि भी अनिवार्य रूप में होनी चाहिए।[4] इस शंका का समाधान कात्यायन ने किया है कि उचित कारण अर्थात् उच्चारण साधनों से युक्त होकर हृदय प्रदेशस्थवायु, वेणु, शंख आदि से शब्द रूप में स्वयं में प्रगट होती है।[5] वेणु, शंख आदि वाद्ययन्त्रों में जिस प्रकार ध्वनि उत्पादन की क्षमता रखते हुए भी मानवीय प्रयत्न नितान्त आवश्यक होता है, उसी प्रकार मनुष्य के उच्चारणावयवों में भी मानवीय आन्तरिक प्रयत्न वायु के आधार से ध्वनि को

---

1. *ऋ०प्रा० 13/1*
2. *ऋ०प्रा० 13/1 (वायु: प्राण: कोष्ठयम्)*
3. *वा०प्रा० 1/6–7*
4. *वा०प्रा० 1/8 उवटभाष्य*
5. *वा०प्रा० 1/8 उवटभाष्य*

उत्पन्न करता है। ऋ०प्रा० में ध्वनि की उत्पत्ति के विषय में कहा गया है कि फेफड़े से निकलती हुई वायु भी वर्णों की उत्पत्ति में तभी समर्थ होता है, जब मनुष्य वर्णों को उत्पन्न करने का प्रयत्न करे।[1]

वर्णोच्चारण में प्रयत्न :-

प्रत्येक वर्ण की उत्पत्ति में कोई न कोई प्रयत्न कारण होता है, अर्थात् बिना प्रयत्न के वर्णोत्पत्ति सम्भव नहीं है। वर्णोच्चारण में प्रयुक्त होने वाले शरीरावयवों के व्यापार ही "प्रयत्न" है। यह प्रयत्न दो भागों में विभक्त है –

(1) बाह्य प्रयत्न :– मुख के बाहर अर्थात् स्वरयत्र में होने वाला प्रयत्न।

(2) आभ्यन्तर प्रयत्न :– मुख के भीतर होने वाला प्रयत्न।

वाह्य प्रयत्न एवं आभ्यन्तर प्रयत्न के स्वरूप तथा प्रकार के विषय में वा०प्रा० में स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता है। शिक्षाकारों एवं वैय्याकरणों द्वारा प्रतिपादित आस्य प्रयत्न आदि का ही ग्रहण यहॉ किया गया है, ऐसा भाष्यकार उवट का मत है।[2] ऋ०प्रा० के शिक्षा पटल में इस विषय में स्पष्टोल्लेख किया गया है, किन्तु बाह्य प्रयत्न को प्रकृति या 'अनुप्रदान' कहा गया है।[3] बाह्यप्रयत्न में स्वर–तन्त्रियॉ ही मुख्य सक्रिय उच्चारणावयव हैं जहाँ वायु में कुछ विकार उत्पन्न किया जाता है। ऋ०प्रा० में स्वर–तन्त्रियों की तीन स्थितियॉ मानी गयी हैं विवृत, संवृत और मध्यम स्थिति।[4]

जब स्वर–तन्त्रियॉ एक दूसरे से दूर रहती हैं और मंत्र मुख (रूण्ठद्वार) पूर्ण रूपेण खुला रहता है। स्थित को "विवृत" कहते हैं। इस स्थिति में स्वर–यन्त्र मुख से निकली हुई वायु "श्वास" कहलाती है।[5]

1. ऋ०प्रा० 13/1
2. वा०प्रा० 1/72 पर उवटभाष्य
3. ऋ०प्रा० 13/1
4. ऋ०प्रा० 13/1–2 क
5. ऋ०प्रा० 13/1

जब स्वर–तन्त्रियॉ एक दूसरे के अत्यन्त निकट रहती है और स्वरयन्त्र–मुख बन्द सा हो जाता है। उस स्थिति को 'संवृत' कहते हैं। इस स्थिति में स्वर–यन्त्र–मुख से निकली हुई वायु 'नाद' कहलाती है[1] और जब स्वर–तन्त्रियाँ न तो एक दूसरे से अधिक दूर रहती है और न अधिक निकट रहती है तथा स्वर–यन्त्र–मुख न तो पूर्णरूप से खुला हुआ होता है और न बन्द होता है, और स्वर–यन्त्र–मुख से बाहर निकली हुई वायु 'श्वास' और 'नाद' दोनों हो जाती है, तब मध्यम स्थिति होती है।[2]

यद्यपि सूत्रकार कात्यायन ने बाह्य एवं आभ्यान्तर प्रयत्नों का वर्णन नहीं किया है तथापि भाष्यकार उवट ने वा0प्रा0 के भाष्य प्रयत्नों का संक्षिप्त परिचय दिया है। भाष्यकार उवट ने भी बाह्य प्रयत्न के विवृत, संवृत और मध्यम नाम से तीन प्रकार के होने का उल्लेख वा0प्रा0 के भाष्य में किया है।[3]

ऋ0प्रा0 में इन तीन स्थितियों (श्वास, नाद, तथा श्वास और नाद) से ही वर्ण उत्पन्न होते हैं। ऋ0प्रा0 में कहा गया है कि श्वास, नाद और दानों का मेल वर्णों के मूल कारण हैं।[4] श्वास, नाद और श्वास तथा नाद दोनों इन द्रव्यों का उपयोग मुख के उच्चारणावयव वर्णों के उत्पादन में करते हैं।

यहॉ यह प्रश्न उठता है कि किस द्रव्य से कौन–कौन वर्ण उत्पन्न होना है।? इसके समाधान ऋ0प्रा0 में विद्यमान है। यथा– ऋ0प्रा0 में कहा गया है कि श्वास अघोष वर्णों का मूल कारण है। नाद अन्य वर्णों का मूल कारण है। श्वास और नाद ये दोनों – 'सघोष सोष्म–वर्णों' और 'सघोष–ऊष्म वर्णों' का मूल कारण

---

1. *ऋ0प्रा0 13/1*
2. *ऋ0प्रा0 13/2*
3. *वा0प्रा0 1/72 उवटभाष्य*
4. *ऋ0प्रा0 13/3 उवटभाष्य*

है।[1] इन तीन प्रकार के द्रव्यों से उत्पन्न वर्णों को निम्नांकित रेखाचित्र से समझा जा सकता है:–

रेखाचित्र

श्वास	नाद	श्वास और नाद
क, ख, च, छ, ट, ठ, त, थ, प, फ, श, ष, स, अः, ᳵक, ᳵप, अं, = 17	अ, आ, ऋ, ॠ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ओ, ऐ, औ, इ३, लृ,ग, ड०, ज, ञ, ड, ण, द, न, ब, म, य, र, ल, व, = 28	घ, झ, ढ, ध, भ, ह, = 6

बाह्य प्रयत्न के आधार पर ऋ0प्रा0 में व्यंजनों को दो भागों में विभक्त किया गया है। अघोष और सघोष।[2] इनके विषय में ऋ0प्रा0 में विधान किया गया है कि 'सघोष–सोष्म–वर्णों और 'सघोष–ऊष्म–वर्णों (ह) का मूल कारण श्वास और नाद दोनों हैं।[3] वा0प्रा0 इस विषय में मौन है। सघोष और अघोष के विषय में मैक्समूलर से लेकर ह्विटनी जैसे मूर्धन्य विद्वानों ने विस्तृत विचार किया है। इन आलोचना, प्रत्यालोचना, से उच्चारण की संभाव्यता आज सन्देह का विषय नहीं रह गयी है।

वर्णो के उच्चारण में आभ्यन्तर प्रयत्न :-

वर्णो के उच्चारण में आभ्यन्तर प्रयत्न की विशेष उपयोगिता है। इसलिए दोनों प्रातिशाख्यों में आभ्यन्तर प्रयत्न के विषय में उल्लेख किया गया है। यद्यपि वा0 प्रा0 में आभ्यन्तर प्रयत्न के विषय में कोई स्पष्टोल्लेख नहीं है तथापि भाष्यकार ने आभ्यन्तर प्रयत्न के विषय में उल्लेख किया है। भाष्यकार उवट ने

1. *ऋ0प्रा0 13/4–6*
2. *वही 1/11, 1/12*
3. *वही 13/6*

आभ्यन्तर प्रयत्न को 'आस्य–प्रयत्न' एवं 'मुख–प्रयत्न' कहा है।[1] भाष्यकार ने आभ्यन्तर प्रयत्न के छः भेदों का भी उल्लेख किया है,[2] यथा संवृत, विवृत, अस्पृष्ट, स्पृष्ट, ईषस्पृष्ट और अर्धस्पष्ट।

ऋ0प्रा0 में 'आभ्यन्तर–प्रयत्न' के लिए 'करण' शब्द का प्रयोग किया गया है।[3] भाष्यकार उवट के अनुसार 'प्रदान' शब्द का प्रयोग भी 'आभ्यन्तर–प्रयत्न' के अर्थ में किया गया है।[4] ऋ0प्रा0 में 'आभ्यन्तर प्रयत्न के तीन भेद बतलाये गये हैं– यथा– स्पृष्ट, दुःस्पृष्ट और अस्पृष्ट।

(1) स्पृष्ट :–

स्पर्श संज्ञक व्यञ्जनों का आभ्यन्तर प्रयत्न 'स्पृष्ट' होता है। इस प्रयत्न के लिए 'अस्थित' विशेषण का प्रयोग किया गया है।[5]

(2) दुःस्पृष्ट :–

य्, र्, ल्, व् का आभ्यन्तर प्रयत्न दुःस्पृष्ट होता है। इसमें उच्चारणावयवों का थोडा सा स्पर्श होता है।[6] इसको अन्य ग्रन्थों में 'ईषत्स्पृष्ट' कहा गया है।

(3) अस्पृष्ट :–

स्वर्ण–वर्ण, अनुस्वार और 'ऊष्म–वर्णो का 'आभ्यन्तर–प्रयत्न' 'अस्पृष्ट' होता है। इसके लिए ऋ0प्रा0 में 'स्थित' शब्द का प्रयोग किया गया है।[7] स्थित कहने का तात्पर्य यह है कि 'स्वर–'वर्णो', 'अनुसार' और 'ऊष्म वर्णो का उच्चारण देर तक किया जाता है, जबकि स्पर्श–वर्णो का उच्चारण देर तक अविच्छिन्न रूप

---

1. *वा0प्रा0 1/43 उवटभाष्य*
2. *वा0प्रा0 1/72 उवटभाष्य*
3. *ऋ0प्रा0 13/8*
4. *ऋ0प्रा0 13/8 उवटभाष्य*
5. *ऋ0प्रा0 13/9*
6. *ऋ0प्रा0 13/10*
7. *ऋ0प्रा0 13/11*

से नहीं किया जा सकता।

वा0प्रा0 में भाष्यकार ने उल्लेख किया है कि स्थान, करण एवं आभ्यन्तर प्रयत्न की समानता होने पर सवर्ण–संज्ञा होती है।[1] वर्णो की सवर्णता का निर्णय 'आभ्यन्तर–प्रयत्न' ज्ञान से हो सकता है। भाष्यकार उवट का मत है कि सवर्ण संज्ञाङ्गभूत होने के कारण आस्य प्रयत्न का शिक्षान्तर से ग्रहण किया गया है।[2]

वर्णो के उच्चारण में स्थान और करण :-

भाष्यकार उवट ने 'स्थान' शब्द का निर्वचन इस प्रकार किया है– "अधिकरणं वर्णानां स्थानशब्देनोच्यते"[3] अर्थात् वर्णो के आधार को स्थान शब्द से अभिहित किया जाता है। ऋ0 प्रा0 में निष्क्रिय तथा अपेक्षाकृत अचल अंग को 'स्थान' कहा गया है।[4] वा0प्रा0 में किसी सूत्र के द्वारा स्थान और करण का विधान नहीं किया गया है। किन्तु उवट और अनन्त ने वर्णो के अधिकरण को स्थान कहा है। वस्तुतः जिस स्थान पर वायु को विकृत करके जिस वर्ण को उत्पन्न किया जाता है उसी 'स्थान' को उस वर्ण विशेष का स्थान कहते हैं।

सक्रिय और गतिशील अंग ही करण है[5] अर्थात् करण वह अंग विशेष है, जो उच्चारण के लिए अपेक्षित व्यापार (प्रयत्न) करता है। ऋ0प्रा0 में यह विधान नहीं किया गया है कि किन–किन वर्णो का कौन करण होता है, किन्तु वर्णों के स्थानों का विधान किया गया है। वर्णो की उत्पत्ति में स्थानों के महत्त्व के कारण स्थान के आधार पर ही वर्णो के कण्ठ्य आदि नौ स्थानों का उल्लेख किया गया है। वे नौ स्थान निम्नलिखित हैं–

---

1. *वा0प्रा0 1/43*
2. *वा0प्रा0 1/85 उवटभाष्य*
3. *ऋ0प्रा0 1/49 उवटभाष्य*
4. *ऋ0प्रा0 1/49*
5. *ऋ0प्रा0 1/49*

(1) कण्ठ :–

अ, आ, ह्, और अः का उच्चारण स्थान कण्ठ है।[1] इसके लिए 'कण्ठ्य' संज्ञा का विधान है।

(2) उरस् :–

ह् और अः का उच्चारण स्थान 'उरस्' है।[2] इसके लिए 'उरस्य' संज्ञा का प्रयोग किया गया है।

(3) जिह्वामल :–

ऋ, लृ, लॄ क्, ख्, ग्, घ्, ङ् का उच्चारण स्थान 'जिह्वामूल है।[3] इसके लिए 'जिह्वामूलीय संज्ञा का प्रयोग है।

(4) तालु :–

ए, च्, छ्, ज्, झ्, ञ्, इ, ई, ऐ, य् और श् का उच्चारण स्थान तालु है[4], इसके लिए 'तालव्य' संज्ञा का विधान है।

(5) मूर्धा :–

ष्, ट्, ठ्, ड्, ढ् और ण् का उच्चारण स्थान मूर्धा है,[5] इसके लिए 'मूर्धन्य' संज्ञा का विधान है।

(6) दन्तमूल :–

त्, थ्, द्, ध्, न्, स्, र् और ल् का उच्चारण स्थान दन्तमूल है।[6] यह 'दन्तमूलीय' संज्ञक है।

---

1. ऋ०प्रा० 1/38–39
2. ऋ०प्रा० 1/40
3. ऋ०प्रा० 1/41
4. ऋ०प्रा० 1/42
5. ऋ०प्रा० 1/43
6. ऋ०प्रा० 1/44–45

(7) बर्स्व :–

रेफ के स्थान को कतिपय आचार्य 'बर्स्व' मानते हैं।[1]

(8) ओष्ठ :–

उ, ऊ, ओ, औ, प्, फ्, ब, भ, म, व्, प का उच्चारण स्थान ओष्ठ है।[2] यह 'ओष्ठ्य' संज्ञक है।

(9) नासिका :–

नासिक्य, यम और अनुस्वार का उच्चारण स्थान नासिका है।[3] यह 'नासिक्य' संज्ञक है। वा०प्रा० में भी उवट ने बतलाया है कि यह 'नासिक्य' ध्वनि ऋक्शाखा में प्रसिद्ध है।[4]

वा०प्रा० अनुसार 'स्वर-वर्णो' का उच्चारण स्थान और करण :-

अकार :– सूत्रकार ने ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत अकार का उच्चारण कष्ठ बतलाया है।[5] कष्ठ उच्चारण स्थान होने से अवर्ण का हनु मात्र करण है।

इकार:– वा०प्रा० के अनुसार अनुस्वार ह्रस्व, दीर्घ एवं प्लुत इकार का उच्चारण स्थान तालु है।[6] अतः इकार जिह्वामूल का करण है।

उकार :– ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत उकार का उच्चारण स्थान 'ओष्ठ' है।[7] उकार का करण भी 'ओष्ठ' है।[8]

---

1. *ऋ०प्रा० 1/46*
2. *ऋ०प्रा० 1/47*
3. *ऋ०प्रा० 1/48*
4. *वा०प्रा० 8/23 उवट*
5. *वा०प्रा० 1/71*
6. *वा०प्रा० 1/66*
7. *वा०प्रा० 1/70*
8. *वा०प्रा० 1/80*

ऋकार :– ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत ऋकार का उच्चारण स्थान 'जिह्वामूल है।[1] ऋकार का करण 'हनुमूल' है।[2]

लृकार :– ह्रस्व, दीर्घ एवं प्लुत लृकार का उच्चारण स्थान 'दन्त' है।[3] अतः लृकार का जिह्वाग्र करण है।[4]

एकार :– दीर्घ एवं प्लुत एकार का उच्चारण स्थान तालु है।[5] अतः एकार का करण जिह्वामध्य है।[6]

ऐकार :– वा0प्रा0 में ऐकार के उच्चारण स्थान का स्पष्टोल्लेख नहीं है, किन्तु सूत्रकार कात्यायन ने ऐकार के सन्ध्यक्षरत्व का विश्लेषण करते हुए कहा है कि ऐकार में पूर्वमात्रा कण्ठ्य वर्ण की एवं बाद की मात्रा तालु की है।[7] अतः इसका हनुमध्य जिह्वाग्र करण संभावित है।

ओकार :– दीर्घ एवं प्लुत ओकार का उच्चारण स्थान ओष्ठ है।[8] अतः इसका करण भी 'ओष्ठ' है।[9]

औकार :– वा0प्रा0 में भिन्नरूप से औकार का विधान नहीं है, किन्तु सूत्रकार ने कहा है कि औकार में पूर्वमात्रा कण्ठ्य (अकार) की एवं उत्तर मात्रा ओष्ठ्य (ओकार) की है।[10] कण्ठ ओष्ठ स्थान होने से हनुमध्य ओष्ठ करण संभावित है।

---

1. वा0प्रा0 1/65
2. वा0प्रा0 1/83
3. वा0प्रा0 1/69
4. वा0प्रा0 1/76
5. वा0प्रा0 1/66
6. वा0प्रा0 1/79
7. वा0प्रा0 1/73
8. वा0प्रा0 1/70
9. वा0प्रा0 1/80
10. वा0प्रा0 1/73

व्यञ्जन वर्णो का उच्चारण स्थान और करण :-

कवर्ग :– कवर्ग (क्, ख्, ग्, घ्, ङ्) का उच्चारण स्थान जिह्वामूल है।[1] अतः जिह्वामूल स्थान वाले वर्णो का 'हनुमूल' करण है।[2]

चवर्ग :– चवर्ग का उच्चारण स्थान तालु है।[3] अतः 'जिह्वमध्य' करण है।[4] ध्यातव्य है कि प्रायः सभी प्रातिशाख्यों में चवर्ग का उच्चारण स्थान तालु बतलाया गया है। पाणिनीय शिक्षा में भी चवर्ग का उच्चारण स्थान तालु बतलाया गया है।[5]

टवर्ग :– वा0प्रा0 में टवर्ग का उच्चारण स्थान 'मूर्धा' बतलाया गया है।[6] मूर्धा स्थानीय वर्णो का प्रतिवेष्टित जिह्वग्र करण होता है।[7]

तवर्ग :– वा0प्रा0 के अनुसार तवर्ग का उच्चारणस्थान 'दन्त' है।[8] अतः इनका करण जिह्वा का अग्रभाग है।[9]

पवर्ग :– वा0प्रा0 के अनुसर पवर्ग का उच्चारण स्थान ओष्ठ है।[10] ओष्ठ उच्चारण स्थान वाले वर्ण का ओष्ठ ही करण है।[11]

अन्तःस्था वर्णो का उच्चारण स्थान और करण :–

यकार :– यकार का उच्चारण स्थान तालु है।[12] अतः इसका करण 'जिह्वामध्य'

---

1. वा0प्रा0 1/65
2. वा0प्रा0 1/83
3. वा0प्रा0 1/66
4. वा0प्रा0 1/79
5. पा0शि0– पृ0 11
6. वा0प्रा0 1/67
7. वा0प्रा0 1/78
8. वा0प्रा0 1/69
9. वा0प्रा0 1/76
10. वा0प्रा0 1/70
11. वा0प्रा0 1/80
12. वा0प्रा0 1/66

है।[1]

रेफ :– रेफ का उच्चारण स्थान दन्तमूल है[2] और रेफ का करण 'जिह्याग्र है।[3]

लकार :– वा0प्रा0 के अनुसार लकार का उच्चारण स्थान दन्त है।[4] अतः इसका करण जिह्वाग्र है।[5]

वकार :– वकार का उच्चारण स्थान बतलाते हुए कहा गया है कि 'वकार का उच्चारण स्थान 'ओष्ठ' है।[6] इसका करण दन्ताग्र है।[7] पाणिनीय शिक्षा के अनुसार वकार का उच्चारण स्थान ओष्ठ एवं दन्त का अग्रभाग करण है।[8]

ऊष्म वर्णो का उच्चारण स्थान और करण :-

शकार, षकार, सकार और हकार ऊष्म वर्ण है। इनका स्थान एवं करण निम्नलिखित है :–

शकार :–

वा0प्रा0 के अनुसार शकार का उच्चारण स्थान 'तालु' है।[9] अतः इसका करण जिह्वामध्य है।[10] पाणिनीय शिक्षा में शकार का उच्चारण स्थान तालु एवं करण जिह्वामध्य बतलाया गया है।[11]

---

1. *वा0प्रा0 1/79*
2. *वा0प्रा0 1/68*
3. *वा0प्रा0 1/77*
4. *वा0प्रा0 1/69*
5. *वा0प्रा0 1/76*
6. *वा0प्रा0 1/70*
7. *वा0प्रा0 1/81*
8. *पा0शि0– 18*
9. *वा0प्रा0 1/66*
10. *वा0प्रा0 1/79*
11. *पा0शि0 – पृ0 17, 11*

षकार :–वा0प्रा0 के अनुसार षकार का उच्चारण स्थान 'मूर्धा' है[1] और इसका करण 'जिह्वाग्र' है।[2]

सकार :– सकार के उच्चारण स्थान को 'दन्त' माना गया है।[3] अतः इसका करण जिह्वाग्र है।[4]

हकार :– वा0प्रा0 के अनुसार हकार का उच्चारणस्थान 'कष्ठ' है।[5] कष्ठ स्थानीय वर्णो का करण 'हनुमध्य' है।[6]

आयोगवाह वर्णो का उच्चारण स्थान और करण :-

पाणिनि ने अपने वर्ण समाग्नाय में विसर्जनीय जिह्वामूलीय, उपध्मानीय अनुस्वार, नासिक्य तथा यमों का आयोगवाह वर्णो के अन्तर्गत विधान नहीं किया है। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि पाणिनि का वर्ण–समाम्नाय प्रत्याहारों के लिए है। वा0प्रा0 के अनुसार निम्न वर्णो को आयोगवाह माना गया है–

जिह्वामूलीय– (क) वा0 प्रा0 के अनुसार 'क्' का उच्चारण स्थान जिह्वामूल है"[7] और करण हनुमूल है।[8]

उपध्यानीय (प) वा0प्रा0 के अनुसार 'प' का उच्चारण स्थान ओष्ठ है।[9] ओष्ठ स्थानीय वर्णो का करण भी 'ओष्ठ' होता है।[10]

---

1. वा0प्रा0 1/67
2. वा0प्रा0 1/78
3. वा0प्रा0 1/69
4. वा0प्रा0 1/76
5. वा0प्रा0 1/71
6. वा0प्रा0 1/84
7. वा0प्रा0 1/65
8. वा0प्रा0 1/83
9. वा0प्रा0 1/70
10. वा0प्रा0 1/80

अनुसार(अं) वा0प्रा0 में अनुसार (अं) के उच्चारण स्थान को नासिका माना गया है[1] और अनुसार का करण 'हनुमूल' को माना गया है।[2]

विसर्जनीय (अः) विसर्जनीय के विषय में वा. प्रा. में कहा गया है कि 'विसर्जनीय का उच्चारण स्थान कण्ठ है[3] और करण 'हनुमध्य' है।[4]

नासिक्य (हुँ)– नासिक्य वर्णो का उच्चारण स्थानं नासिका है।[5] नासिका स्थानीय वर्णो का करण भी नासिका होता है।[6]

यम (कुँ, खुँ, गुँ, घुँ) 'यम' वर्णो के विषय में उल्लेख है कि 'इनका उच्चारण स्थान 'नासिका' है।[7] इनका करण नासिका मूल है।[8]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि ऋ0प्रा0 एवं वा0प्रा0 दोनों में यह प्रतिपादित किया गया है कि वर्णोच्चारण मे स्थान और करण का विशेष महत्त्व है। इनके बिना वर्णो का उच्चारण सम्भव नहीं है। वर्णो के स्थान एवं करण के विवेचन प्रसग में ऐसे अनेक स्थान दृष्टिपथ में आये हैं; जिनसे यह प्रतीत होता है, कि दोनों प्रातिशाख्यकार कही–कही मतैक्य रखते है तो कहीं–कहीं मतान्तर भी। आभ्यन्तर प्रयत्नों के प्रकार के विषय में भी दोनों एकमत नहीं हैं। ऋ0प्रा0 में आभ्यन्तर प्रयत्न के तीन भेद माने गये है जबकी वा0प्रा0 में छः भेद। इसी प्रकार अनेक स्थल है जहाँ दोनों में मतान्तर है।

वर्णो के उच्चारण में काल का महत्त्व–प्रत्येक वर्ण के उच्चारण में कुछ न

---

1. वा0प्रा0 1/74
2. वा0प्रा0 1/83
3. वा0प्रा0 1/71
4. वा0प्रा0 1/84
5. वा0प्रा0 1/74
6. वा0प्रा0 1/80
7. वा0प्रा0 1/74
8. वा0प्रा0 1/82

कुछ समय लगता है। किसी वर्ण के उच्चारण में कम समय लगता है और किसी वर्ण के उच्चारण में अधिक। वर्णो के उच्चारण में जो समय लगता है उसके परिमाप को बतलाने के लिए 'मात्रा' शब्द का प्रयोग किया जाता है।

वा0प्रा0 में व्यन्जन वर्णों का उच्चारण काल आधी–मात्रा बतलाया गया है। अर्ध–मात्रा वाले व्यञ्जन वर्णों का स्वतन्त्र–रुप से उच्चारण करना कठिन है परन्तु स्वर की सहायता से व्यन्जन वर्णों का उच्चारण हो जाता है। मात्रा के आधार पर वर्णों को निम्न रेखा चित्र द्वारा विभाजित किया जा सकता है।

रेखाचित्र

	ह्रस्व स्वर	दीर्घ स्वर	व्यञ्जन
व्यञ्जन	अ, इ, उ, ऋ, लृ,	आ, ई, ऊ, ॠ, ए, ऐ, ओ, औ,	आ$_3$, ई$_3$, ऊ$_3$, ऋ$_3$, लृ$_3$, ए$_3$, ऐ$_3$, ओ$_3$, औ$_3$,
1/2 मात्रा	1 मात्रा	2 मात्रा	3 मात्रा

उच्चारणकाल के आधार पर स्वरों का विभाजन-

ऋ0प्रा0 एवं वाजसनेयि प्रातिशाख्य–दोनों में उच्चारणकाल के आधार पर स्वरों का विभाजन किया गया है। उच्चारण में लगने वाले समय के परिणाम को दृष्टि में रखकर दोनों प्रातिशाख्यों में स्वरों को तीन श्रेणी में विभक्त किया गया है। यथा–(1)ह्रस्व[1] (2) दीर्घ[2] और (3) प्लुत[3]।दोनों प्रातिशाख्यों में ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत स्वर की परिभाषा का विधान है। ऋ0प्रा0 एवं वा0प्रा0 दोनों में अ, इ, उ, ऋ और लृ वर्ण को ह्रस्व माना गया है इस विषय में दोनों में मतैक्य है, किन्तु

1. ऋ0प्रा0 1/17, वा. भ. 1/55।
2. ऋ0प्रा0 1/18, वा. भ. 1/57।
3. ऋ0प्रा0 1/30, वा. भ. 1/58।

वा0प्रा0 में नौ वर्ण (आ, ई, ऊ, ॠ, लॄ, ए, ऐ, ओ, और औ) दीर्घ माने गये हैं, जबकि ऋ0प्रा0 में आठ वर्ण (आ, ई, ऊ, ॠ, ए, ऐ, ओ औ) दीर्घ माने गये है। ऋ0प्रा0 में लॄ को दीर्घ स्वर के अन्तर्गत नहीं माना गया है। पुनः ऋ0प्रा0 में केवल ई3 को प्लुत स्वर माना गया है। किन्तु वा0प्रा0 में ई3 को मिलाकर कुल नौ (आ3, ई3, ऊ3, ऋ3, लृ3, ए3, ऐ3, ओ3, औ3,) वर्ण प्लुत माने गये है। इन ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत स्वरों के मात्रा के विषय में प्रायः दोनों प्रातिशाख्यों में मतैक्य है। दोनों के अनुसार ह्रस्व–स्वर के उच्चारण में 'एक–मात्रा',[1] दीर्घ स्वर के उच्चारण में दो मात्रा[2] एवं प्लुत–स्वर के उच्चारण में 'तीन–मात्रा'[3] का समय लगता है।

व्यञ्जन का काल– व्यञ्जन के उच्चारणकाल के विषय में भी दोनों प्रातिशाख्यों में मतैक्य है। दोनों प्रातिशाख्यों में व्यञ्जन वर्णों का उच्चारण काल 'अर्ध–मात्रा' माना गया है।[4]

कतिपय वर्णों के स्वरुप के विषय में विशेष विचार-

ऋ0प्रा0 एवं वा.0प्रा0 दोनों में वर्ण समाम्नाय में प्रतिपादित वर्णों में से कतिपय वर्णों के विषय में विचार प्रस्तुत किया गया है जो निम्नवत् है–

ऋ0प्रा0के अनुसार ऋ और ॠ का स्वरुप-

ऋ और ॠ के स्वरुप के विषय में ऋ0प्रा0 में कहा गया है कि ''ऋकार में रेफ होता है।ऋकार से परवर्ती स्वरवर्ण अर्थात् ऋकार के पूर्वार्द्ध में रेफ होता है। वह ऋकार का रेफ ॠकार के रेफ से अल्पतर होता है अथवा अल्पतर नहीं

---

1. ऋ0प्रा0 1/27, वा0प्रा0 1/56।
2. ऋ0प्रा0 1/29, वा0प्रा0 1/57।
3. ऋ0प्रा0 1/30, वा0प्रा0 1/58।
4. ऋ0प्रा0 1/34, वा0प्रा0 1/59।

होता है। ऋकार का रेफ ॠकार के मध्य में होता है।[1]

इससे स्पष्ट होता है कि ऋ0प्रा0 के अनुसार ऋ और ॠ के स्वरुप के पञ्चविध आयाम हैं।

यथा–

(1) ऋ और ॠ स्वरात्मक तथा व्यञ्जनात्मक तत्त्वों के मिलने से बनी हुई मिश्रित ध्वनियाँ हैं।

(2) ऋ तथा ॠ–इन दोनों में रेफ विद्यमान रहता है।

(3) ॠ के पूर्वाध में रेफ होता है।

(4) ॠ के मध्य में रेफ होता है।

(5) ऋ का रेफ या तो ऋ के रेफ से अल्पतर होता है या उसके समान होता है।

ऋ0प्रा0 में ऋ और ॠ में व्यन्जनात्मक तत्त्व का कितना परिणाम है और स्वरात्मक तत्त्व का कितना परिणाम है तथा स्वरात्मक तत्त्व का क्या स्वरुप है? इस विषय में उल्लेख नहीं किया गया है। वा0प्रा0 भी इस विषय में मौन है।

वा0प्रा0 के अनुसार ऋ और लृ का स्वरुप-

वा0प्रा0 में ऋ और लृ के स्वरुप के विषय में कहा गया है कि "ऋ और लृ में क्रमशः रेफ और लकार का संश्लेषण होता है। रेफ और लकार का संश्लेष होने पर भी ऋ एवं लृ एक श्रुति है और एक वर्ण है।[2]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि वा0प्रा0 में ऋ और लृ के स्वरुप के त्रिविध आयाम हैं। यथा–

(1) ऋकार एवं लृकार में स्वरात्मक अंश होने के साथ ही रेफ और लकार का

---

1. ऋ0प्रा0 13/34

2. वा0प्रा0 4/148

व्यञ्जनात्मक अंश भी है।

(2) रेफ और लकार का संश्लेष होने पर भी इनकी पृथक्श्रुति नहीं होती है।

1. ऋ0प्रा013 / 14।

2. वा0प्रा0 4 / 148।

(3) ऋ और लृ में रेफ और लकार का संश्लेष रहने पर भी ये सन्ध्यक्षर अथवा पृथक् –पृथक् वर्ण नहीं है अपितु एक वर्ण हैं।

वा0प्रा0 में ऋ और लृ में स्थित व्यन्जन तत्त्व और स्वर तत्त्व के परिमाण के विषय में भी कुछ नहीं कहा गया है। ऋ, लृ वर्ण में रेफ, लकार का विधान करने वाले सूत्र के अनन्तर वर्णायत्ति में मात्रा विधायक सूत्र का पाठ सूत्रकार ने अवश्य किया है। भाष्यकार उवत ने वा0प्रा0 में भाष्य करते हुए ऋ, लृ वर्ण में स्वरांश एवं व्यञ्जनांश की मात्रा का प्रश्न उठाया है, किन्तु उनका समाधान उपलब्ध नही है।

ऋ0प्रा0 के अनुसार सन्ध्यक्षरों का स्वरुप-

ऋ. प्रा. में ए, ओ, ऐ, और औ को सन्ध्यक्षर कहा गया है।[1] इस सूत्र के भाष्य में भाष्यकार उवट ने कहा है–"अकार की इकार, उकार, एकार और ओकार के साथ सन्धि होने पर जो अक्षर निष्पन्न होते हैं वे 'सन्ध्यक्षर कहलाते है'।

सूत्रकार ने ऋ0प्रा0में बतलाया है कि "कतिपय आचार्य सन्ध्यक्षरों को सन्धि से उत्पन्न बतलाते हैं। तदनुसार इन दोनों में द्विस्थानता है अर्थात प्रत्येक का उच्चारण दो स्थानों से होता है।[2] भाष्यकार उवट ने कहा है कि ए और ऐ ओ और औ में दो–दो उच्चारण स्थानों क्रमशः कण्ठ और तालु तथा कण्ठ और ओष्ठ से उच्चारित होने का गुण परिलक्षित होता है।[3]

---

1. ऋ0प्रा0 1 / 2।
2. ऋ0प्रा0 13 / 38।
3. ऋ0प्रा0 13 / 38 उवट भाष्य।

इसका तात्पर्य यह है कि समानाक्षर' एक अचल चर्ण है, जिसका उच्चारण एक ही स्थान पर एक ही रूप में होता है। इसके विपरीत 'सूध्यक्षर' दो स्वरों का मेल होता है तथा यह चल वर्ण है।

शाकटायन के अनुसार 'ए और ऐ में अकार पूर्ववर्ती आधा भाग होता है और इकार परवर्ती आधा भाग होता है।

ओ और औ में अकार पूर्ववर्ती आधा भाग होता है और उकार परवर्ती आधा भाग होता है।[1]

ए, ओ, ऐ, और औ के श्रूयमाण स्वरुप में भेद है।[2] ऋ. प्रा. में इसके विषय में जो विचार किया गया है,[3] उसको आधार मानकर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि चारों सूध्यक्षर दो–दो स्वर वर्णो के मिलने से निष्पन्न हुए है, किन्तु उच्चारण की दृष्टि से ए और ओ 'समानाक्षर' के सदृश ही है। प्रातिशाख्य के प्रस्तुत सूत्र से ज्ञात होता है कि प्रातिशाख्य के समय में ए और ओ का उच्चारण समानाक्षर के सदृश होने लगा था।विवेचन से ज्ञात होता है कि ऋ. प्रा. के अनुसार ए में अवर्ण और इवर्ण तथा ओ में अवर्ण और उवर्ण समान परिणाम में विद्यमान हैं। यही कारण हैकि ए में अवर्ण तथा इवर्ण एवं ओ में अवर्ण और उ वर्ण इस प्रकार मिल गये हैं कि उनका पृथक श्रवण नहीं होता हैं, जिसके परिणामस्वरुप ए और ओ का उच्चारण 'समानाक्षर' के समान होता है। इन वर्णो का सन्ध्क्षर स्वरुप विनष्ट हो गया है। इसके विपरीत ऐ में अवर्ण और इवर्ण तथा औ में अवर्ण और उ वर्ण समान परिणाम में विद्यमान नहीं है।

---

1. ऋ0प्रा0 13/39।
2. ऋ0प्रा0 13/40, उवट भाष्य में विस्तृत विचार किया गया है।
3. द्रष्टब्य– ऋग्वेद प्रातिशाख्य एक परिशीलन– डॉ0 वर्मा, पृ0 49

वा०प्रा० के अनुसार सन्ध्यक्षरों का स्वरुप-

वा. प्रा. में भी ऋ. प्रा. के सदृश ए, ऐ, ओ, और औ को सन्ध्यक्षर माना गया है।[1] वा. प्रा. में प्रतिपादित 'सन्ध्यक्षर' संज्ञा से स्पष्ट होता है कि इन वर्णो में दो स्वर वर्णो का संयोग है। वा. प्रा. में यह भी विधान किया गया है कि ऐकार और ओकार की पूर्ववर्ती मात्रा कण्ठ्य वर्ण की है तथा उत्तरवर्ती मात्रा क्रमशः तालव्य वर्ण (एकार) की तथा ओष्ठ्य वर्ण (ओकार) की है।[2]

ध्यातव्य है कि सूत्रकार कात्यायन ने इन वर्णो में कितनी मात्रा कण्ठय की है, कितनी मात्रा तालव्य वर्ण की है और कितनी मात्रा ओष्ठ्य वर्ण की है यह स्पष्ट नहीं किया है, किन्तु भाष्यकर उवट ने इसको स्पष्ट करते हुए कहा है कि ऐकार में पूर्ववर्ती आधी मात्रा कण्ठय वर्ण की है एवं परवर्ती डेढ़ मात्रा तालव्य वर्ण की है। इसी प्रकार ओकार में पूर्ववर्ती 1/2 मात्रा कण्ठ्य वर्ण की है एवं परवर्ती डेढ़ मात्रा ओष्ठ्य वर्ण ओकार की है इससे स्पष्ट है कि चारो
सन्ध्यक्षर दो–दो स्वर वर्णो के मिलने से निष्पन्न होते है, किन्तु उच्चारण करने में ये एक वर्ण हैं।

ऋ प्रा. एवं वा. प्रा. के अनुसार अनुस्वार का स्वरुप-

वा. प्रा. में अनुस्वार को आयोगवाह वर्णो के अन्तर्गत माना गया है।[3] ऋ. प्रा. में अनुस्वार के विषय में विस्तृत विवेचन किया गया है। जिनका संक्षेप में उल्लेख करना अत्यावश्यक है–

(1) ऋ०प्रा० के प्रारम्भिक श्लोकों में 'अनुस्वार' की गई है।[4]

(2) ऋ. प्रा. में चार सूत्रों में अनुस्वार का प्रयोग व्यन्जन के साथ किया गया है

---

1. *वा०प्रा० 1/45*
2. *वा०प्रा० 1/73*
3. वा. प्रा. 4/150,151।
4. ऋ. प्रा. वर्गद्वय–10।

यथा–

(3) वे ह्रस्व स्वर वर्ण भी गुरु संज्ञक होते हैं, जिनके परे संयुक्त व्यन्जन हो या अनुस्वार हो।[1]

(4)अनुस्वार और व्यन्जन अक्षर स्वर वर्ण का अङ्ग होते है।[2]

(3)व्यञ्जन सहित अथवा अनुस्वार सहित अथवा शुद्ध भी 'स्वर' अक्षरसंज्ञक होता है।[3]

(4)'अनुस्वार' यदि बाद में नही होता है तो 'ह्रस्व–अक्षर्' लघु संज्ञक होता है।[4]

(5)दो सूत्रों में विसर्जनीय के साथ 'अनुस्वार' का प्रयोग है यथा–

(1)विसर्जनीय और अनुस्वार पूर्व अक्षर के अङ्ग होते है।[5]

(2)अनुस्वार और विसर्जनीय पूर्ववर्ती स्वर वर्ण के अङ्ग होते हैं।[6]

(4)दो सूत्रों में स्वर के साथ अनुस्वार का प्रयोग है यथा–

(1)संयुक्त वर्ण आदि दो बार उच्चारित होता है यदि इसके पूर्व में स्वर अथवा अनुस्वार हो।[7]

(2)परवर्ती दो (संध्यक्षर'–ऐ और औ) ह्रस्व (स्वर–वर्ण) और अनुस्वार के योग के समान है।[8]

(5)एक सूत्र में स्वर एवं ऊष्मन् के साथ अनुस्वार का प्रयोग किया गया है। यथा–

---

1. ऋ .प्रा. 1/21।
2. ऋ. प्रा. 1/122।
3. ऋ. प्रा. 18/32।
4. ऋ. प्रा. 18/39।
5. ऋ. प्रा. 18/34।
6. ऋ. प्रा. 1/24।
7. ऋ. प्रा. 6/1।
8. ऋ. प्रा. 13/41।

(1) स्वर, अनुस्वार और ऊष्म वर्णों का (आभ्यन्तर प्रयत्न–करण)'स्थित''अस्पृष्ट' होता है।[1]

(6)पाँच सूत्रों में स्वतन्त्र पदों में अनुस्वार का प्रयोग किया गया है। यथा–

(1)ऊष्मवर्ण में समाप्त होने वाला जो नपुंसक लिङ्ग वाला शब्द है उसके बहुवचन में उत्पन्न 'अनुस्वार' दीर्घ पूर्व होता है। वह 'अनुस्वार' 'सि' तथा 'षि' में समाप्त होने वाले पदों में उपलब्ध होता है।[2]

(2)स्वर से परवर्ती अनुनासिक से पूर्व में अनुस्वार का उच्चारण अथवा उपधा का अन्य वर्ण में परिवर्तन होता है।[3]

(3)ऋचाओं में पद के मध्य में दीर्घ स्वर वर्ण के बाद में यही अनुस्वार है।[4] (जिसका विधान 13/22 से लेकर 13/27 तक किया गया है।)

4)आचार्य अनुस्वार को पदों के अन्त में न स्थित –पदों के मध्य में वर्तमान, कहते है।[5]

(5)रेफ और ऊष्म वर्ण बाद में हो तो मकार अनुस्वार हो जाता है।[6]

(7)छः सूत्रों में 'अनुस्वार' के स्वरुप का प्रतिपादन किया गया है। यथा–

(1)'अनुस्वार''व्यन्जन' भी है और 'स्वर' भी है।[7]

(2)'नासिक्य', यम, और अनुस्वार–इन नासिक्यो को छोड़कर शेष सब ओष्ठ्य है।[8]

(3)अनुनासिक व्यन्जनों का घोष अनुस्वार को बतलाया गया है।[9]

1.ऋ. प्रा. 13/11।
2.ऋ प्रा. 13/22।
3.ऋ. प्रा. 14/54।
4.ऋ. प्रा. 13/28।
5.ऋ. प्रा.13/36।
6.ऋ. प्रा. 4/15।
7.ऋ. प्रा. 1/5।
8.ऋ. प्रा. 1/48।
9.ऋ. प्रा. 13/15।

(4)(कतिपय आचार्य कहते हैं) अनुस्वार के पूर्व में स्थित ह्रस्व (स्वर–चर्ण) आधी 'स्वरभक्ति' से न्यून होता है और ह्रस्व (स्वर वर्ण) के बांद में स्थित वह अनुस्वार उतने (आधी स्वर भक्ति) ही से अधिक होता है।[1]

(5)दीर्घ स्वर वर्ण से बाद में स्थित अनुस्वार को उतने (चौथाई मात्रा) से न्यून बतलाते है,[2] और अनुस्वार के पूर्व में स्थित उस दीर्घ स्वर वर्ण को चौथाई मात्रा से अधिक बतलाते है।

(6)व्याडि अनुस्वार को 'नासिका' स्थान वाला या मुखनासिका स्थान वाला अनुनासिक मानते है।[3]

उपर्युक्त विन्दुओं पर विचार करने से तथाअनुस्वार के स्वरुप के विषय में जो तथ्य प्रस्तुत किये गये है, उनके अनुशीलन से यह स्पष्ट होता है कि ऋ. प्रा. 'अनुस्वार' को न केवल 'व्यञ्जन' मानता है और न केवल 'स्वर'। अतः सूत्र 1/5 में जो 'वा' का प्रयोग है, उसका अर्थ समुच्चय है, अर्थात् अनुस्वार व्यन्जन भी है और स्वर भी। भाष्यकार उवट का भी यही अभिप्राय प्रतीत होता है, क्योकि उनके अनुसार 'अं' यह अनुस्वार वर्णमाला में आता है। यह अनुस्वार स्वर के कतिपय गुणों को धारण करता है और व्यञ्जन के कतिपय गुणों को भी धारण करता है। जैसे 'ह्रस्व' होना, 'दीर्घ' होना, 'प्लुत' होना, 'उदात्त', होना, 'अनुदात्त' होना, 'स्वरित' होना, ये स्वर वर्ण के गुण हैं। उसी प्रकार आधी मात्रा के काल का होना, उदात्त, अनुदात, स्वरित होना तथा संयोग प्राप्त करना–ये व्यञ्जन के गुण हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि स्वर और व्यञ्जन इन दोनों के गुणों को धारण करने के कारण दोनों के स्वभाव वाला 'अनुस्वार' शुद्ध स्वर' और शुद्ध 'व्यञ्जन'

---

1. ऋ. प्रा. 13/32।
2. ऋ. प्रा. 13/33।
3. ऋ. प्रा. 13/37।

से भिन्न स्वर– व्यन्जनात्मक एक मिश्रण वर्ण है। डॉ0 वीरेन्द्र वर्मा जी के मत से यथार्थ प्रतीत होता है।

वा. प्रा. एवं ऋ. प्रा. के अनुसार अनुनासिक का स्वरुप-

वा. प्रा. के अनुसार स्पर्श के अन्तिम वर्ण (ङ्, ञ्, ण्, न्, म्) के लिए अनुनासिक शब्द का प्रयोग किया जाता है। इसमें विधान किया गया है कि अनुनासिक का उच्चारण मुख और नासिक से उच्चारित होने वाला वर्ण है।[1] इसमें यह भी कहा गया है कि स्पर्श वर्गों के अन्तिम वर्ण नियमित रुप में अनुनासिक धर्म से सम्बन्धित हैं, अतः वे अनुनासिक कहलाते है।[2] अनुनासिक के विषय में भाष्यकार उवट का कथन है कि " अनुनासिकता स्वर वर्णों का वैकल्पिक धर्म है तथा रेफ को छोड़कर अन्य अन्तःस्था वर्णों का वाचनिक धर्म है।[3] तात्पर्य यह है कि स्वर वर्णों तथा अन्तःस्था वर्णों का उच्चारण जब मुख और नासिका दोनो से होता है तब इन वर्णों को क्रमशः अनुनासिक स्वर और अनुनासिक अन्तःस्था कहते है।

ऋ. प्रा. में यह विधान किया गया है कि अनुनासिक का उच्चारण मुख और नासिका दोनों से होता है।[4] ऋ. प्रा. में अनुनासिक शब्द का विविध प्रयोग दृष्टिगोचर होता है, जो निम्नवत् होता है–

(1) ऋ. प्रा. में वर्गों के अन्तिम वर्ण (ङ्, म्, ञ्, ण्, न्) के रुप में अनुनासिक शब्द का प्रयोग अनेकत्र किया गया है–यथा–

(1)वर्गों के अन्तिम वर्णों को अनुनासिक कहते है।[5]

---

1. वा. प्रा. 1/75।
2. वा. प्रा. 1/89।
3. वा. प्रा. 1/75 उवटभाष्य।
4. ऋ. प्रा. 13/20।
5. ऋ. प्रा. 1/14, 5/26, 6/29, 41, 9/10, 11/50, 51,13/15, 37।

(2)अनुनासिक के लिए 'रक्त'–संज्ञा का विधान है।[1]

(2)स्वर–वर्णों के विशेषण के रुप में पाँच स्थलों में अनुनासिक का प्रयोग किया गया है।[2]

(3)अन्तः स्था वर्ण के विशेषण के रुप में अनुनासिक शब्द का प्रयोग एक स्थल में किया गया है।[3]

(4)उच्चारण दोष के प्रसङ्ग में 'अनुनासिक' शब्द का प्रयोग किया गया है।[4]

इससे स्पष्ट है कि मुख और नासिका से उच्चारित होने वाला वर्ण 'अनुनासिक' है। इसलिए वर्गो के पन्चम वर्ण अनुनासिक कहलाते है।

ऋ. प्रा. एवं वा. प्रा. में प्रतिपादित संयोगविषयक उच्चारण वैशिष्टय– वा. प्रा. में संयोग की परिभाषा देते हुए कहा गया है कि स्वर के व्यवधान से रहित व्यन्जन को संयोग कहा जाता है।[5] व्यञ्जन वर्णों के संयोग' में होने वाली उच्चारण सम्बन्धित विशेषताओं के विषय में दृष्टिपात किया जा रहा है।

अभिनिधान– वा. प्रा.में सूत्रकार कात्यायन ने अभिनिधान संज्ञा का न तो कोई विधान किया है न तो कहीं पर उल्लेख ही किया है, किन्तु भाष्यकार उव्क्ट ने उच्चारण वैशिष्टय के लिए अभिनिधान संज्ञा का प्रयोग किया है।[6] ऋ.प्रा. में अभिनिधान का लक्षण प्रस्तुत करते हुए आचार्य शौनक ने कहा है कि वर्ण का अवरोध (संधारण)और वर्ण की ध्वनि को दबाना (संवरण) 'अभिनिधान' कहलाता है।[7]

---

1. ऋ. प्रा. 1/36।
2. ऋ. प्रा. 1/63, 2/67, 4/80, 10/10, 14/13।
3. ऋ. प्रा. 4/7।
4. ऋ. प्रा. 14/9।
5. वा. प्रा. 1/48।
6. वा. प्रा. 4/144।
7. ऋ. प्रा. 6/17।

ध्यातव्य है कि अभिनिधान एक ऐसा उच्चारण वैशिष्ट्य है, जो ध्वनि–विषयक सूक्ष्म चिन्तन की पराकाष्ठा को प्रदर्शित करता है। इसीलिए प्रातिशाख्यों एवं शिक्षा ग्रन्थों में अभिनिधान का प्रतिपादन किया गया है। ऋ. प्रा. के छठे पटल के 'सोलह सूत्रों[1] में अभिनिधान का विस्तृत वर्णन किया गया है। इन वर्णनों से यह स्पष्ट प्रतीयमान होता है कि अभिनिधान में संयुक्त व्यञ्जनों के सामान्य स्वरुप को विकृत करके उनका असंयुक्त उच्चारण किया जाता है। ऐसा करने से प्रथम संयुक्त व्यन्जन असंयुक्त हो जाता है और वह अकेले व्यन्जन के समान उच्चारित होता है।

अभिनिधान एक ऐसा उच्चारण वैशिष्ट्य है जिसके द्वारा संयुक्त स्पर्श व्यञ्जनो के स्वाभाविक अपूर्ण उच्चारण को पूर्ण करने का प्रयत्न किया गया है। प्रथम संयुक्त व्यन्जों के बाद में जो रुका जाता है, उसका यही उद्देश्य है कि वह संयुक्त स्पर्श व्यञ्जन अकेले स्पर्श व्यञ्जन के समान होकर पूर्ण उच्चारित हो सके।

अभिनिधान का अपर वैशिष्ट्य है कि इसमें प्रथम संयुक्त 'स्पर्श' व्यञ्जन की धनि को कुछ दबाकर उसका उच्चारण किया जाता है।

अभिनिधान के स्थल के विषय में अनेक मत उपलब्ध हैं, जिसमें से कुछ आचार्यों के मतों को संक्षेप में प्रस्तुत किया जा रहा है–

(1) स्पर्श वर्णों का और रेफ को छोड़कर अन्य 'अन्तःस्था वर्णों का अभिनिधान होता है, यदि बाद में स्पर्श वर्ण हो।[2] (शौनक)

(2) अन्त में वर्तमान होने पर भी इन वर्णों का अभिनिधान होता है। (शौनक)[3]

---

1. ऋ. प्रा. 16 / 17–28, 31, 43–45।
2. ऋ. प्रा. 6 / 17।
3. ऋ. प्रा. 6 / 18।

(3) अपना--अपना वर्ण बाद में होने पर अनुनासिक भी अन्तःस्था वर्ण अभिनिधान को प्राप्त होते है।[1] (शौनक)

(4) ऊष्म वर्ण बाद में होने पर लकार अभिनिधान को प्राप्त होता है।[2] (शाकल)

(5) खकार बाद में होने पर 'ख्या' धातु का ककार 'अभिनिधान' को प्राप्त होता है।[3] (शाकल)

(6) 'रप्श' धातु का पकार अभिनिधान को प्राप्त होता है। (शाकल)

(7) मकार से पूर्व वाले (क से म तक) स्पर्श, पद के अन्त में आने पर, अभिनिधान को प्रप्त होते हैं, यदि पद

के आदिमें वर्तमान य, र, व और ऊष्म वर्ण बाद में हो। (शाकल)

(8) जब संयुक्त वर्ण (संयोग) के द्वितीय व्यञ्जन का द्वित्व होता है तब द्वित्व के परिणाम स्वरुप आने वाले व्यन्जन का अभिनिधान होता है।[4] (व्याळि)

(9) स्वर के बाद में विद्यमान व्यञ्जन का अभिनिधान होता है।[5] (व्याळि)

(10) रेफ के बाद में विद्यमान व्यञ्जन का अभिनिधान होता है।[6] (व्याळि)

स्वर भक्ति-

'स्वरभक्ति' संयुक्त व्यञ्जनों का एक महत्वपूर्ण उ़च्चारण वैशिष्टय है। वा. प्रा. में कहीं पर 'स्वरभक्ति' शब्द का प्रयोग नही किया गया है, किन्तु स्वरभक्ति सम्बन्धित नियम को प्रतिपादित करते हुए कहा गया है कि र् तथा ल् के बाद ऊष्म वर्ण हो या स्वर हो तो सर्वत्र (दोनों के मध्य में क्रमशः) ऋ, लृ (स्वरों की

---

1. ऋ. प्रा. 6/19।
2. ऋ. प्रा. 6/20।
3. ऋ. प्रा. 6/21।
4. ऋ. प्रा. 6/44।
5. ऋ. प्रा. 6/44।
6. ऋ. प्रा. 6/44।

आंशिक ध्वनि)का आगम होता है।[1] इसी ध्वनि को स्वरभक्ति कहते है। ऋ. प्रा. में स्वरभक्ति के विषय में अनेक मत प्रस्तुत हैं, किन्तु उनके अनुशीलन से यह मतभेद उजागर होते है, अर्थात् स्वरभक्ति किन–किन स्थलों पर होती है इस विषय में पर्याप्त मतभेद है। यथा–

(1) 'स्वर वर्ण पूर्व में और 'व्यञ्जन' बाद में हो जिसके ऐसे रेफ के बाद में ऋवर्णात्मक 'स्वरभक्ति उत्पन्न होती है।'[2] (आचार्य शौनक)

(2) सघोष 'अभिनिधान से बाद में भी 'स्वरभक्ति' उत्पन्न होती है, यदि बाद में 'स्पर्श' अथवा ऊष्मन् हो।[3] (आचार्य शौनक)

(3) 'यम' के बाद में नासिका स्थान वाली 'स्वरभक्ति' होती है।[4] (आचार्य गार्ग्य)

(4) कतिपय आचार्य सर्वत्र स्वरभक्ति का अभाव मानते है,अर्थात् 'स्वरभक्ति' रुप आगम कहीं भी नही होता है[5]– न पद के मध्य में और न भिन्न–भिन्न पदों में, न रेफ के बाद में और न सघोष अभिधान से बाद में । (सूत्रकार कार का कथन)

(5) कतिपय आचार्यों के अनुसार रेफ से बाद में स्वरभक्ति का आगम होता है, अन्यत्र नहीं।[6]

(6) कतिपय आचार्यों के अनुसार बाद में अद्विरुक्त ऊष्म–वर्ण होने पर रेफ तथा लकार के बाद में स्वरभक्ति का आगम होता है।[7]

---

1. वा. प्रा. 4/17।
2. ऋ. प्रा. 6/46।
3. ऋ. प्रा. 6/47।
4. ऋ. प्रा. 6/36
5. ऋ. प्रा. 6/50।
6. ऋ. प्रा. 6/51।
7. ऋ. प्रा. 6/52।

ध्यातव्य है कि ऋ. प्रा. के अनुसार स्वरभक्ति के दो भेद हैं–
(1)दीर्घ स्वरभक्ति और (2)ह्रस्व स्वरभक्ति। 'ऊष्म'–वर्ण बाद में होने पर स्वरभक्ति 'दीर्घ' होती है।[1] किन्तु ह्रस्व स्वरभक्ति दो स्थितियों पर निर्भर करती है[2] – यथा–

(1)बाद में ऊष्म–वर्ण को छोड़कर कोई अन्य वर्ण हो तो ।

(2)द्वित्व को प्राप्त ऊष्म वर्ण बाद में होने पर ।

स्वरभक्ति के काल में विषय में ऋ. प्रा. में कहा गया है कि 'दीर्घ स्वरभक्ति' आधी मात्रा काल वाली होती हैं[3] और ह्रस्व स्वर–भक्ति आधे से कम अर्थात् चौथाई मात्रा काल वाली होती है।[4] ऋ. प्रा. मे स्वरभक्ति की अक्षरत्व का निषेध किया गया है।[5] इस प्रकार स्पष्ट होता है कि स्वरंभक्ति अति ह्रस्व स्वरवर्ण होता है, जिसके कारण उसमें इतनी सामर्थ्य नहीं होती है कि वह स्वतन्त्र अक्षर का कार्य कर सके। इसके परिणाम स्वरुप उसे अपने पूर्ववर्ती स्वर वर्ण का अङ्ग बनना पड़ता है।

यम-

वा. प्रा. में यम के स्वरुप को बतलाते हुए कहा गया है कि पद के मध्य में अपञ्चम स्पर्श (अनुनासिक) वर्ण पञ्चम स्पर्श वर्ण बाद में रहने पर विच्छेद[6] (यम) को प्राप्त होता है। इनका 'उच्चारणस्थान'[7] नासिका है और इनका 'मूलकारण'[8] नासिका है। ये अपने पूर्ववर्ती स्वरवर्ण का अङ्ग होता है।[9] इनकी संख्या[10] कुँ, खुँ, गुँ और घुँ ये चार हैं। ध्यान देने की बात है कि – भाष्यकर उक्त

1. ऋ. प्रा. 6/48।
2. ऋ. प्रा. 6/49।
3. ऋ. प्रा. 1/33।
4. ऋ. प्रा. 1/35।
5. ऋ. प्रा. 1/32।
6. वा. प्रा. 4/163।
7. वा. प्रा. 1/74।
8. वा.. प्रा. 1/82।
9. वा.. प्रा. 1/103।
10. वा. प्रा. 8/24।

ने यम की बीस संख्या के निर्देश में जिस विधान की ओर संकेत किया है वह विध
ान अनुनासिक स्पर्श वर्णों के द्विख होने पर ही प्रवृत्त होता है। अनुनासिक स्पर्श बीस हैं अतः सम्भावित द्विख के साथ यम भी बीस होगें।[1] पुनः वा. प्रा. में यथापत्ति दोष के विषय में कहा गया है कि ऊष्म वर्णों से स्पर्श वर्गीय पन्चम वर्ण बाद में होने पर यम का आगम करना दोष है।[2]

यम के स्वरुप के विषय में ऋ. प्रा. में अनेक मत प्रस्तुत किये गये हैं। यम का लक्षण करते हुए कहा गया है कि 'अनुनासिक' स्पर्श अपने यमों को प्राप्तहो जाते हैं, यदि बाद में अनुनासिक स्पर्श हो।[3]

यम के विषय में ऋ. प्रा. में प्रतिपादित विभिन्न मत-

(1) अनुनासिक स्पर्श के बाद में अनुनासिक स्पर्श होने पर अनुनासिक स्पर्श के पूर्व में एक नासिका ध्वनि का आगम हो जाता है, जिसे 'यम' कहते है,[5] (मैक्समूलरएवं रेग्नियर)

(2) 'यम' अनुनासिक स्पर्शों के स्थान पर आने वाले वर्ण है (य. दे. शास्त्री)

(3) अनुनासिक स्पर्श वर्ण के बाद में अनुनासिक स्पर्श वर्ण होने पर उन दोनो के मध्य में एक नासिक्य वर्ण का अणय होता है, वही 'यम' है। (वै–प्रा., च. अ.,वा. शि.)

(4) नारद और औदव्रजि प्रभृति ग्रन्थकारों ने यम को आगम माना है किन्तु आचार्य शौनक ने यम को वर्णापन्ति माना है। (पाणिनीय शिक्षा 4 पर पन्जिका भाष्य)

1. *वा०प्रा० 4/163 उवट*
2. *वा०प्रा० 4/164*
3. *वा०प्रा० 6/29*
4. *ऋग्वेद प्रातिशाख्या एम०डी० शास्त्री, पृ० 192*
5. *तै०प्रा० 21/12 च०अ० – 1/99, ना०भि० 2/2/8*

इस प्रकार ऋ. प्रा. में यम के स्वरुप के विषय में विस्तृत विचार किया गया है। ऋ. प्रा. में यमों की संख्या के विषय में कहा गया है कि प्रत्येक 'यम' वर्ण के दो उच्चारण स्थान होता है। यथा–

(1) नासिका सभी यम वर्णों का सामान्य उच्चारण स्थान है।[1]

(2) दूसरा जो स्थान है वह प्रकृतिभूत वर्ण (अनुनासिक स्पर्श) का ही स्थान होता है अर्थात दूसरा स्थान नासिका और तालु है।[2]

यमों की संख्या के विषय में ऋ. प्रा. में उल्लेख नही किया गया है किन्तु ऋ. प्रा. में यह कहा गया है कि यम अपनी प्रकृति के सदृश है।[3] इससे यह स्पष्ट होता है कि मूलभूत व्यन्जनों के बीस होने के कारण 'यम' भी 'बीस' हैं। किन्तु भसष्यकार उवत इससे सहमत नही है। उनके अनुसार 'यम' बीस नही, अपितु चार है।[4]

द्वित्व :-

वर्णाच्चारण में ष्त्वि के महत्वपूर्ण भूमिका होने के कारण दोनों प्रातिशाख्यों में इसके विषय में विचार किया गया है। इसमें लिए क्रम, द्विरुक्ति तथा द्विर्भाव संज्ञा प्रयुक्त की गयी है। वा. प्रा. में सोलह सूत्रों में एवं ऋ. प्रा. में पन्द्रह(15) सूत्रों में इस विषय में विवेचन किया गया है।

द्वित्व के स्थल:-

(1)संयोग का प्रथम वर्ष द्वित्व को प्राप्त करता है, सदि उस वर्ण के पूर्व में स्तर अथवा अनुस्वर हो।[5]

---

1. *ऋ0प्रा0 1/48*
2. *ऋ0प्रा0 1/50, 6/33*
3. *ऋ0प्रा0 6/32*
4. *ऋ0प्रा0 6/29 उवटभाष्य*
5. *ऋ0प्रा0 6/1*

(2) संयोग का प्रथम वर्ण न होने पर भी धकार का द्वित्व होजाता है।[1]

(3) रेफ से परवर्ती व्यन्जन का द्वित्व हो ।[2]

(4) लकार से बाद में आने वाले स्पर्श का द्वित्व होता है।[3]

(5) ह्रस्व स्वर वर्ण पूर्व में होने पर पद के अन्त में विद्यमान ङकार का द्वित्व हो जाता है।[4]

(6) ऊष्म–वर्ण से बाद में विद्यमान स्पर्श वर्ण विकल्प से द्वित्व को प्राप्त होता है।[5]

(7) पूर्व में कोई वर्ण न होने पर संयुक्त ऊष्म वर्ण का विकल्प द्वित्व होता है।[6]

(8) स्वर पूर्व में होने पर संयोग का आदि वर्ण सर्वत्र द्वित्व को प्राप्त होता है।[7]

(9) स्वर पूर्व में रेफ और हकार के बाद में स्थित व्यंजन वर्ण द्वित्व को प्राप्त करता है।[8]

(10) स्वरपूर्व ऊष्य एवं अन्तःस्थ वर्ण के बाद में स्थित स्पर्श वर्ण का द्वित्व हो जाता है।[9]

(11) जिह्वामूलीय एवं उपध्यमानीय के बाद में स्थित स्पर्श वर्ण का द्वित्व हो जाता है।[10]

---

1. *ऋ०प्रा० 6/3*
2. *ऋ०प्रा० 6/4*
3. *ऋ०प्रा० 6/5*
4. *ऋ०प्रा० 6/15*
5. *ऋ०प्रा० 6/6*
6. *ऋ०प्रा० 6/9*
7. *वा०प्रा० 4/102 उवटभाष्य*
8. *वा०प्रा० 4/102*
9. *वा०प्रा० 4/103*
10. *वा०प्रा० 4/104*

(12) विसर्जनीय के बाद में स्थित व्यंजन संयुक्त स्पर्श वर्ण द्वित्व प्राप्त करता है।[1]

(13) स्वर परे होने पर ह्रस्व स्वर पूर्व पदान्त ङकार एवं नकार का द्वित्व हो जाता है।[2]

(14) श, ष, स वर्ण जहाँ उभयतः स्पर्शों से युक्त होते हैं वहॉ पूर्व वाले स्पर्श वर्ण का ही द्वित्व हो जाता है।[3]

(15) किन्हीं स्थलों पर संयोग का आदि द्वितीय एवं चतुर्थ स्पर्श वर्ण क्रमानुसार अपने वर्ग के प्रथम एवं द्वितीय वर्ण के साथ द्वित्व को प्राप्त करते हैं।[4]

द्वित्व का निषेध :-

दोनों प्रातिशाख्यों में प्रतिपादित द्वित्व–निषेध विषयक तथा निम्नलिखित हैः–

(1) रेफ के बाद में आने वाला व्यंजन पद के अन्त में विद्यमान होने पर 6/4 से प्रसक्त द्वित्व को प्राप्त नही करता।[5]

(2) रेफ 6/1 से प्रसक्त द्वित्व को प्राप्त नहीं करता।[6]

(3) स्वर वर्ण और ऊष्य–वर्ण बाद में होने पर ऊष्म–वर्ण 6/1 से प्रसक्त द्वित्व को प्राप्त नहीं करता।[7]

(4) परवर्ती द्विरुक्त व्यंजन का पूर्ववर्ती व्यंजन 6/1 से प्रसक्त द्वित्व को प्राप्त नहीं करता है।[8]

---

1. वा0प्रा0 4/107
2. वा0प्रा0 4/108
3. वा0प्रा0 4/105
4. वा0प्रा0 4/110
5. ऋ0प्रा0 6/4
6. ऋ0प्रा0 6/1
7. ऋ0प्रा0 6/10
8. ऋ0प्रा0 6/11

(5) सह, अतिहाय, पवमान, यस्य, और तवे च बाद में विद्यमान पदादि छकार 6/3 से प्रसक्त द्वित्व को प्राप्त नहीं करता है।[1]

(6) मा को छोड़कर अन्य किसी दीर्घ स्वर वर्ण से बाद में विद्यमान छकार 6/3 से प्रसक्त द्वित्व को प्राप्त नहीं करता है।[2]

(7) स्वर वर्ण पूर्व में न स्थित होने पर ऊष्म एवं अन्तःस्थ वर्णों के बाद में स्थित स्पष्ट व्यंजन का द्वित्व नहीं होता है।[3]

(8) संयुक्त व्यंजनों के पूर्व में स्थित अनुस्वार का द्वित्व नहीं होता है।[4]

(9) स्वर से पूर्व में स्थित संयोग का आदि वर्ण अपना सवर्ण अक्षर के बाद में होने पर द्वित्व को प्राप्त नहीं करता है।[5]

(10) ऋ वर्ण बाद में होने पर पूर्व में स्थित संयोगादि वर्ण का द्वित्व नहीं होता है।[6]

(11) लृ वर्ण बाद में होने पर पूर्व में स्थित संयोगादि वर्णों का द्वित्व नहीं होता है।[7]

(12) 'यम' बाद में होने पर संयोगादि वर्ण का द्वित्व नहीं होता है।[8]

(13) विसर्जनीय वर्ण द्वित्व प्राप्त नहीं करता।[9]

(14) अन्तिम वर्ण से अतिरिक्त स्वर्गीय स्पर्श वर्ण बाद में होने पर पूर्ववर्ती स्पर्श वर्ण का द्वित्व नहीं होता।[10]

(15) अवसान में स्थित व्यंजन का भी द्वित्व नहीं होता है।[11]

इस प्रकार दोनों प्रातिशाख्यों में वर्णोच्चारण–विषयक विधान किया गया है, जो अत्यन्त महत्वपूर्ण तथा उपयोगी है।

---

1. ऋ०प्रा० 6/12 *2. ऋ०प्रा० 6/13* *3. वा०प्रा० 4/106*
4. वा०प्रा० 4/111 *5. वा०प्रा० 4/112* *6. वा०प्रा० 4/113*
7. वा०प्रा० 4/114 *8. वा०प्रा० 4/115* *9. वा०प्रा० 4/116*
10. वा०प्रा० 4/117 *वा०प्रा० 4/118*

चतुर्थ अध्याय
सन्धि प्रकरण

चतुर्थ अध्याय
सन्धि प्रकरण

सन्धि का स्वरूप :-

साधारणतः सभी ग्रन्थों का अपना–अपना मुख्य प्रतिपाद्य विषय होता है, जिसके कारण वे प्रसिद्धि प्राप्त करते हैं। प्रातिशाख्य ग्रन्थ भी पदों से संहिता–पाठ निर्माण के लिए प्रसिद्ध है। यही प्रातिशाख्य ग्रन्थों का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है। पदपाठ से संहितापाठ के निर्माण के लिए सन्धि नियमों की आवश्यकता होती है। क्योंकि सन्धिनियमों के आधार पर ही संहिता–पाठ का निर्माण किया जाता है।

सन्धि शब्द 'सम्' उपसर्ग पूर्वक 'धा' धातु से निष्पन्न हुआ है। इसका अर्थ है 'मेल'। लौकिक संस्कृत में सन्धि शब्द का प्रयोग केवल वहीं होता है जहाँ दो वर्णों के पास–पास आने से कुछ वर्ण विकार हो जाता है। जहाँ पर वर्णों के पास–पास आने पर भी वर्ण विकार नहीं होता है वहाँ सन्धि का अभाव माना जाता है। दोनों प्रातिशाख्यों में सन्धि के स्वरूप को अंकित किया गया है। ऋ०प्रा० में वर्णों के पास–पास आ जाने को ही सन्धि कहा गया है, चाहे विकार हो या नहीं। ऋ०प्रा० के अनुसार 'स्वर वर्ण' पूर्व में तथा 'व्यंजन' बाद में होने पर 'अनुलोम अन्वक्षर' सन्धियाँ कहलाती हैं।[1] भाष्यकार ने 'न नि मिषति सुरणः' को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है। इस उदाहरण में तीन स्थलों पर अनुलोम अन्वक्षर सन्धि है। यहाँ कोई भी विकार नहीं है। पुनः ऋ०प्रा० में विधान किया गया है कि 'स्पर्श' पदान्त और 'व्यंजन' पदादि होने पर 'अवशंगम सन्धि' होती है।[2] इस सन्धि में स्पर्श और व्यंजन पास–पास में आ जाते हैं, कोई विकार नहीं होता।

वा०प्रा० में सन्धि के अर्थ में संस्कार शब्द का प्रयोग किया गया है।[3]

---

1. ऋ०प्रा० 2/8
2. ऋ०प्रा० 4/1
3. वा०प्रा० 1/1

भाष्यकार उवट का कथन है कि संस्कार के अन्तर्गत लोप, आगम, विकार तथा प्रकृतिभाव आते हैं।[1] याज्ञवल्क्य शिक्षा में भी स्पष्ट शब्द में यह घोषणा की गयी है कि संधि चार प्रकार की होती हैं – लोप, आगम, विकार और प्रकृतिभाव।[2] इस प्रकार अधिकांश प्रातिशाख्यों एवं शिक्षा ग्रन्थों में वर्णों के पास–पास आने के लिए 'सन्धि' शब्द का प्रयोग किया गया है।

दोनों प्रतिशाख्यों में संहिता का लक्षण भी किया गया है। वा0प्रा0 के अनुसार वर्णों के एक श्वास में उच्चारण को संहिता कहते हैं।[3] अर्थात् प्रथक्भूत वर्णों तथा पदों के मिलने से जो संयुक्त रूप निष्पन्न होता है वह संहिता है। उवट ने इसे प्राणसंहिता के नाम से अभिहित किया है।[4]

ऋ0प्रा0 में सहिता का लक्षण करते हुए कहा गया है कि काल का व्यवधान किये बिना जो पदान्तों का पदादियों के साथ मेल संपादन करती है वह संहिता है।[5]

संहिता के भेद :-

संहिता के भेद के विषय में यद्यपि सूत्रकार ने कुछ नहीं कहा है तथापि भाष्यकार ने अपने भाष्य के माध्यम से संहिता के भेद को स्पष्ट करने की प्रयत्न किया है। ऋ0प्र0 के 2/2 के भाष्य करते हुए भाष्यकार ने संहिता के दो भेद माना है। यथा –

(1) आर्षी संहिता :– वह संहिता जिसका दर्शन ऋषियों ने किया था।

(2) क्रम संहिता :– वक्ता क्रम–वर्ग में दो पदों और उनकी संहिता का

---

1. वा0प्रा0 1/1 उवटभाष्य

2. त्रा0 शि0, पृ0 81

3. वा0प्रा0 1/158

4. वा0प्रा0 1/158 पर उवटभाष्य

5. ऋ0प्रा0 2/2

अव्यवहित उच्चारण करता है।

वा0भ0 के 3/3 पर भाष्य करते हुए उवट ने कहा है कि सन्धियाँ चार प्रकार की हैं। यथा –

(1) स्वर सन्धि

(2) व्यञ्जन सन्धि

(3) स्वर–व्यञ्जन सन्धि

(4) व्यञ्जन–स्वर सन्धि

ऋ0प्रा0 में विहित सन्धियों को भी निम्न रूप में विभाजित किया जा सकता है यथा –

(1) स्वर सन्धि

(2) व्यञ्जन सन्धि

(3) स्वर–व्यञ्जन सन्धि

(4) व्यञ्जन–स्वर सन्धि

(5) नति सन्धि

(6) समावश सन्धि

इन दोनों प्रतिशाख्यों में विहित इन सन्धियों के विषय में विचार करने से पहले सन्धि विषयक परिभाषा सूत्रों पर ध्यान देना (विचार करना) अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि सन्धियों के सम्यक् ज्ञान के लिए ये सूत्र महत्त्वपूर्ण हैं।

ऋ0प्रा0 में विहित परिभाषा-सूत्र :-

ऋ0प्रा0 में सन्धियों के सम्यक् अवबोध के लिए जिन परिभाषा सूत्रों का विधान किया गया है वे निम्नवत् हैं :–

(1) पदपाठ में दिखलाई पड़ने वाले पदान्तों और पदादियों में ही विकार सम्बन्धी शास्त्र को लागू जानना चाहिए और वहाँ भी यह विकार सम्बन्धी

शास्त्र विधान के अनुसार ही लागू होता है।[1] अर्थात् विकार पदों के अन्तिम वर्णों और पदों के प्रथम वर्णों में ही होता है तथा उन्हीं पदान्तों और पदादियों में विकार होगा जो पदपाठ में दिखलाई पड़ते हैं और यह विकार ऋ०प्रा० में विहित नियमों के अनुसार ही होता है।

(2) एक वर्ण वाले पद को, प्रश्लिष्ट होने पर भी, पदान्तवत् और पदादिवत् समझना चाहिए।[2]

(3) पदों के क्रम से सन्धियों को करना चाहिए।[3]
उपर्युक्त सूत्र के अनुसार प्रथम पद की द्वितीय पद के साथ, द्वितीय पद की तृतीय पद के साथ, तृतीय पद की चतुर्थ पद के साथ सन्धि करनी चाहिए।

वा०प्रा० में विहित परिभाषा-सूत्र :-

(1) पदान्त और पदादि में सन्धि होती है[4] यथा– आ इदम् (प०पा०) = एदम् (सं०पा०) यहाँ पर पूर्वपद के अन्त में आ है और उत्तर पद के आदि में इ है। इन दोनों में सन्धि होकर 'एदम्' रूप सिद्ध होता है।

(2) परकाल की सन्धि के बाद पुनः पूर्वकाल की सन्धि प्राप्त होने पर परकाल की सन्धि नहीं रहती।[5]

(3) सन्धि विधानों में 'हि' शब्द के द्वारा काल का निर्धारण किया जाता है।[6]
आशय यह है कि सन्धि विधान में पूर्वकाल सन्धि एवं परकाल सन्धि का

---

1. *ऋ०प्रा० 2/5*
2. *ऋ०प्रा० 2/6*
3. *ऋ०प्रा० 2/7*
4. *वा०प्रा० 3/3*
5. *वा०प्रा० 3/4*
6. *वा०प्रा० 3/5*

विभाग 'हि' शब्द के द्वारा किया गया है।

इस प्रकार दोनों प्रातिशाख्यों में विहित सन्धिविषयक विधानों के उल्लेख के पश्चात् दोनों प्रतिशाख्यों में सन्धियों का जो विभाग 'निर्धारण किया गया है, उनका विवेचन किया जा रहा है।

स्वर-सन्धि :-

पद के आदि तथा पद के अन्त में आने वाले स्वर–वर्णों के मेल को स्वर–सन्धि कहते हैं। ऋ0प्रा0 के अनुसार इसके अनेक भेद हैं यथा –

(1) प्रश्लिष्ट सन्धि

(2) क्षैप्र सन्धि

(3) भुग्न सन्धि

(4) अभिनिहित सन्धि

(5) पदवृत्ति सन्धि

(6) उद्ग्राह सन्धि

(7) उद्ग्राह–पदवृत्ति सन्धि

(8) उद्ग्राहवत् सन्धि

(9) प्राच्यपञ्चाल –पदवृत्ति सन्धि

(10) प्रकृतिभाव सन्धि

(१) प्रश्लिष्ट सन्धि :-

पद के आदि में विद्यमान स्वर तथा पद के अन्त में विद्यमान स्वर जब मिलकर एक हो जाते हैं तब प्रश्लिष्ट सन्धि होता है। ऋ0प्रा0 में इस सन्धि के पॉच भेद बतलाए गये हैं, वे हैं :–

(1) समान उच्चारण स्थान वाले दो 'समानाक्षर' एक दीर्घ स्वर हो जाते हैं।[1]

---

1. ऋ0प्रा0 2/15

पणिनीय व्याकरण में इसको 'दीर्घ सन्धि' कहा गया है।

(2) इकार बाद में होने पर अकार परवर्ती इ या ई के साथ मिलकर एकार हो जाता है।[1]

(3) उकार बाद में होने पर अकार परवर्ती उ के साथ मिलकर ओकार हो जाता है, अर्थात् अ या आ पदान्त हो और उ या ऊ पदादि हो तो दोनों मिलकर ओ हो जाते हैं।[2]

(4) अ या आ पदान्त हो और ए या ऐ पदादि हो तो दोनों मिलकर ऐ हो जाते हैं।[3]

(5) अ या आ पदान्त हो और ओ या औ पदादि हों तो दोनों मिलकर औ हो जाते हैं।[4]

ऋ0प्रा0 के अनुसार उपर्युक्त सूत्रों से जिन सन्धियों का विधान है वे प्रश्लिष्ट–संज्ञक है।[5] ध्यातब्य है कि ऋ0प्रा0 के 2/15 से जिस सन्धि का विधान किया गया है, पाणिनीय व्याकरण में वह 'दीर्घ–सन्धि' कहलाती है तथा 2/16 एवं 2/17 में जिस सन्धि का विधान किया गया है, वह पाणिनीय व्याकरण में 'गुण–सन्धि' कहलाती है और 2/18 एवं 2/19 में जिस सन्धि का विधान किया गया है पाणिनीय व्याकरण में 'वृद्धि–सन्धि' कहलाती है। इससे स्पष्ट है कि पाणिनीय व्याकरण में विहित दीर्घ, गुण और वृद्धि सन्धियों के लिए ऋ0प्रा0 में केवल प्रश्लिष्ट संज्ञा का विधान किया गया है।

---

1. *ऋ0प्रा0 2/16*
2. *ऋ0प्रा0 2/17*
3. *ऋ0प्रा0 2/18*
4. *ऋ0प्रा0 2/19*
5. *ऋ0प्रा0 2/20*

क्षैप्र सन्धि :-

ऋ0प्रा0 में क्षैप्र सन्धि के विषय में तीन सूत्रों का उल्लेख किया गया है यथा –

(1) स्वर बाद में होने पर 'अकण्ठ्य' 'समानाक्षर' अन्तस्थ हो जाता है।[1]

(2) अपना–अपना समानाक्षर बाद में होने पर पूर्ववर्ती अकण्ठ्यसमानाक्षर अन्तः स्था नहीं होता है।[2]

(3) क्षैप्र सन्धियों में 'अकण्ठय' समानाक्षर (इ वर्ण तथा उ वर्ण) परवर्ती स्वर के साथ मिलकर अन्तःस्था नहीं होता है, अपितु 'अकण्ठ्य समानाक्षर' अकेला अन्तःस्था हो जाता है।[3]

उपर्युक्त सूत्रों के विवेचन से स्पष्ट होता है कि क्षैप्र सन्धि के विधान में प्रयुक्त सूत्र 2/21 का अपवाद सूत्र है सूत्र 2/22। क्योंकि सूत्र 2/22 में सूत्र 2/21 के विपरीत विधान किया गया है, अर्थात् सूत्र 2/21 में जो अकण्ठ्य समानाक्षर का अन्तःस्था हो जाना बतलाया गया है, उसके विपरीत सूत्र 2/22 में विधान है कि 'अकण्ठ्य समानाक्षर' अन्तःस्था नहीं होता है। सूत्र 2/23 में क्षैप्र संधि की विशेषता को दर्शाया गया है। पाणिनीय व्याकरण में यह सन्धि 'यण्' संन्धि के रूप में जानी जाती है।

भुग्न सन्धि :-

'ओष्ठय' है मूल जिनके ऐसे अ और आ के परे यदि अनोष्ठ्य 'स्वर' हो तो दोनों के मध्य में वकार का आगम हो जाता है। इसे भुग्न सन्धि कहते हैं।[4] यथा– वायो इति। आ याहि (प0पा0) = वायवा याहि (स0पा0)। यहाँ सूत्र 2/28 से 'वायो' का

---

1. *ऋ0प्रा0 2/21*
2. *ऋ0प्रा0 2/22*
3. *ऋ0प्रा0 2/23*
4. *ऋ0प्रा0 2/31*

अभिनिहित सन्धि :-

ऋ0प्रा0 में जिस अभिनिहित सन्धि का विधान किया गया है, पाणिनीय व्याकरण में वह पूर्वरूप सन्धि कहलाती है। ऋ0प्रा0 में ऐसे अनेक स्थल हैं जहॉ अभिनिहित सन्धि का विधान है यथा –

(1) पदादि अकार पूर्ववर्ती एकार और ओकार के साथ मिलकर एक हो जाता है।[1]

(2) संहिता पाठ में 'लघु' अकार से परे यकार से प्रारम्भ होने वाला या वकार से प्रारम्भ होने वाला 'लघु' अक्षर होने पर पाद के मध्य में भी अकार की अभिनिहित सन्धि हो जाती है।[2]

(3) 'आवः' में समाप्त होने वाले पद से उपहित अविधीयमान अकार से परे यकार और वकार से अन्य 'व्यञ्जन' से प्रारम्भ होनेवाला, किन्तु उसी प्रकार युक्त 'अक्षर' हो तो अकार अभिनिहित सन्धि को प्राप्त कर लेता है।[3]

(4) अये, अयः, अवे और अवः ये समाप्त होने वाले पदों से उपहित सब प्रकार का अकार अभिनिहित सन्धि को प्राप्त कर लेता है।[4]

(5) आ, न, प्र, क्व, चित्रः, सविता, एव और कः– इनमें से किसी भी पद से उपहित 'वः' इस पद से उपहित अकार अभिनिहित सन्धि को प्राप्त करता है।[5]

(6) एकार और ओकार से बाद में आने पर अदात्, अवर्त्रः, अजनयन्त, अव्यत्यै, अभेत्, अयोऽपाष्टिः, अवन्तु, अवीरता, ओमुभुक्तम्, अमतये, अनशामहै, अव,

---

1. ऋ0प्रा0 2/34
2. ऋ0प्रा0 2/35
3. ऋ0प्रा0 2/36
4. ऋ0प्रा0 2/37
5. ऋ0प्रा0 2/38

त्वचः, अवीरते, अवासि, अवः और अरथाः – इन पदों के प्रथम अकार अभिनिहित सन्धि को प्राप्त करते हैं।[1]

(7) वासोवायः अभिभुवे, कवण्यः, संक्रन्दनः, धीजवनः, स्वधाव, उत्सादतः, ऋतावः, सगर्भ्यः और हिरण्यश्रृङ्गः – इन पूर्ववर्ती पदों से उपहित अकार अभिनिहित सन्धि को प्राप्त करता है।[2]

इन सूत्रों के अतिरिक्त ऋ0भा0 के सात सूत्रों (2/42–48) में अभिनिहित सन्धि के निपातन के विषय में बतलाया गया है और दो सूत्रों (2/47 व 50) में अभिनिहित सन्धि के अपवाद को भी अंकित किया गया है। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि अभिनिहित सन्धि का विस्तृत विधान ऋ0प्रा0 में किया गया है। ऋ0प्रा0 के सत्रह सूत्रों में इस सन्धि का विधान किया गया है, जिसमें से आठ सामान्य, दो अपवाद और सात निपातन सूत्र हैं।

पदवृत्ति सन्धि :-

ऋ0प्रा0 में पदवृत्ति संज्ञा का प्रयोग कहीं भी नहीं हुआ है, किन्तु तीन सूत्रों (2/24–26) में पदवृत्ति सन्धि का विधान किया गया है।

(1) यदि दीर्घ स्वर पूर्व में हो तथा कोई भी स्वर बाद में हो तो अरिफित विसर्जनीय आकार हो जाता है।[3]

(2) अन्तिम दो स्वर (ऐ, ओ) आ हो जाते हैं, यदि बाद में स्वर हों। ऐ का आ होना पदवृत्ति सन्धि का द्वितीय प्रकार है और औ का आ होना तृतीय

---

1. ऋ0प्रा0 2/39–40

2. ऋ0प्रा0 2/41

3. ऋ0प्रा0 2/24

प्रकार है।[1]

उद्ग्राह सन्धि :-

ऋ0प्रा0 में 'उद्ग्राह' संज्ञा का विधान करते हुए कहा गया है कि – 2/27–28 में विहित सन्धियाँ उद्ग्राह कहलाती हैं।[2] इससे स्पष्ट है कि तीन सूत्रों में उद्ग्राह सन्धि का विधान किया गया है।

(1) ह्रस्व स्वर पूर्व में होने पर अरिफित विसर्जनीय अव्यवहित पूर्ववर्ती वर्ण के सहित अकार होता है।[3]

(2) उपोत्तम (अन्तिम स्वर से पूर्ववर्ती अर्थात् ए) से पूर्व वाले दो स्वर (ए और ओ) भी अकार हो जाते हैं, यदि बाद में स्वर हो।[4]

उल्लेखनीय है कि उद्ग्राह शब्द 'उत्' पूर्वक 'ग्रह' धातु से 'धञ्' प्रत्यय लगाकर निष्पन्न हुआ है। इसका अर्थ है काटकर अलग किया हुआ, बाहर निकाला हुआ। उद्ग्राह–संज्ञक सन्धि में अव्यवहित पूर्ववर्ती वर्ण (उपधा) सहित विसर्जनीय से विसर्जनीय को तथा एकार और ओकार – इन सन्ध्यक्षरों में से क्रमशः इकार और उकार को काटकर अलग कर दिया जाता है। इन सबका आकार मात्र ही अवशिष्ट रहता है। यही कारण है कि इस सन्धि को उद्ग्राह संज्ञा प्रदान की गयी है।

उद्ग्राह-पदवृत्ति संधि और उद्ग्राहवत् सन्धि :-

ऋ0प्रा0 में उद्ग्राह–पदवृत्ति सन्धि के विषय में यह कहा गया है कि दीर्घ–स्वर बाद में होने पर उद्ग्राह सन्धियाँ ही उदग्राह पदवृत्ति संज्ञक हो जाती हैं।[5] तथा ऋकार बाद में होने पर 'कण्ठय' (अ, आ) अकार हो जाते हैं। इसको

---

1. ऋ0प्रा0 2/25–26
2. ऋ0प्रा0 2/29
3. ऋ0प्रा0 2/27
4. ऋ0प्रा0 2/28
5. ऋ0प्रा0 2/30

उदग्राहवत् सन्धि कहा जाता है।[1]

प्राच्य पंचाल पदवृत्ति सन्धि :-

इस सन्धि के विषय में ऋ०प्रा० में यह कहा गया है कि उद्ग्राह सन्धियों के जो पूर्वरूप हैं, उनके परे अकार होने पर उनपूर्वरूपों (ह्रस्वपूर्व विसर्जनीय, ए और ओ) में से दो (ए और ओ) प्रकृति रूप में रहते हैं तथा आदि वाला एक (ह्रस्वपूर्व विसर्जनीय) ओ हो जाता है। ये प्राच्य–पञ्चाल पदवृत्तियाँ कहलाती हैं।[2]

ध्यातब्य है कि डॉ0 वीरेन्द्र कुमार वर्मा ने अपनी पुस्तक ऋग्वेद प्रातिशाख्य एक परिशीलन में कहा कि प्राच्य–पञ्चाल पदवृत्तियाँ उद्ग्राह सन्धि की ही विकृति हैं। यह सन्धि अभिनिहित सन्धि का अपवाद हैं, क्योंकि जहाँ अभिनिहित सन्धि नहीं होती वहाँ 'विवृत्ति' होती है और वह विवृत्ति प्राच्य पदवृत्ति और पञ्चाल पदवृत्ति नाम से दो प्रकार की है।[3]

प्राच्य–पञ्चाल पदवृत्ति के विषय में यह कहा गया है कि वृद्ध शाकल्य के अनुसार प्राच्य–पञ्चाल पदवृत्तियों के पूर्ववर्ती स्वर (उपधा) के सदृश ही उनके परवर्ती स्वर होते हैं[4] तथा शाकल लोगों की इससे भिंन्न स्थिति है।[5]

इससे स्पष्ट है कि ऋग्वेद की एकमात्र उपलब्ध शाकल शाखा के अनुयायी परवर्ती अकार का उच्चारण बिना किसी विकार के ज्यों का त्यों अकार रूप में ही करते हैं।

---

1. ऋ0प्रा0 2/32
2. .ऋ0प्रा0 2/33
3. .ऋ0प्रा0 एक परिशीलन डॉ0 वीरेन्द्र कुमार वर्मा, पृ0 141
4. .ऋ0प्रा0 2/81
5. .ऋ0प्रा0 2/82

प्रकृतिभाव सन्धि :-

प्रकृतिभाव सन्धि के विवेचन से पहले प्रगृह्य–संज्ञा के विषय में जानना अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि प्रगृह्य संज्ञा एवं प्रकृतिभाव का परस्पर विशिष्ट सम्बन्ध है। इसलिए ऋ0प्रा0 के आठ सूत्रों (1/68–75) में तथा वा0प्रा0 के सात सूत्रों (1/92–98) में प्रगृह्य पद गिनाये गये हैं।

ऋ0प्रा0 के अनुसार निम्नलिखित स्वर प्रगृह्य संज्ञक होते हैं :–

(1) सम्बोधन पद के अन्त में विद्यमान ओ प्रगृह्य–संज्ञक होता है।[1]

(2) "ओ" पद होने पर प्रगृह्य संज्ञक होता है।[2]

(3) 'समास के पूर्वपद के अन्त में न आने वाला' ओ' प्रगृह्य संज्ञक होता है।[3]

(4) द्विवचनान्त पदों के अन्त में विद्यमान ई,ऊ तथा ए प्रगृह्य संज्ञक होता है।[4]

(5) सप्तमी विभक्ति के अर्थ में होने पर ई और ऊ प्रगृह्य संज्ञा को प्राप्त होते है।[5]

(6) अस्मे, युष्मे, त्वे और अमी–इन पदों के ए तथा ई प्रगृह्य संज्ञक हैं।[6]

(7) 'त्वे' अनुदान या पद होने पर प्रगृह्य नहीं होता है।[7]

(8) किसी ब्यञ्जन से न मिला हुआ उ, यदि 'इति' के पूर्व में प्रयुक्त हो तो प्रगृह्य संज्ञक होता है।[8]

ध्यातव्य है सन्धि के चार भेदों में प्रकृतिभाव अन्यतम है। शब्द का अपने मूलरुप में बने रहने की व्यवस्था को ही प्रकृतिभाव कहते है। पाणिनीय व्याकरण के अनुसार सन्धिगत विकास का न होना ही प्रकृति भाव है।[9]

---

1. ऋ0प्रा0 1/68 2. ऋ0प्रा0 1/69 3. ऋ0प्रा0 1/70
4. ऋ0प्रा0 1/71 5. ऋ0प्रा0 1/72 6. ऋ0प्रा0 1/73
7. ऋ0प्रा0 1/74 8. ऋ0प्रा0 1/75 9. ऋ0प्रा0 4/40

प्रकृतिभाव सन्धि के नियम :-

ऋ.प्रा. एवं वा0प्रा0 दोनो में प्रकृति भाव सन्धि के नियम के विषय में विध ान किया गया है जो निम्नवत् है–

(1) 'इति' शब्द परे होने पर प्रगृह्य स्वर प्रकृति भाव से रहते1 यथा– इन्दो इति।[1]

(2) आर्षी संहिता में स्वर परे होने पर भी प्रगृह्य स्वर प्रकृति भाव से रहते हैं।[2]

(3) आर्षी संहिता से सन्धिज यकार से बाद में आने वाला और विवृत्ति से बाद में आने वाला 'उ'............प्रकृतिभाव है।[3]

(4) अकार से प्रारम्भ होने वाला पद बाद में होने पर 'सु' पद प्रकृतिभाव होता है।[4]

(5) अकर से प्रारम्भ होने वाला पद बाद में होने पर तथा एक अक्षर वाला पद या'तत्र' पद पूर्व में न होने पर 'पूषा' पद प्रकृतिभाव होता है।[5]

(6) अकार, इकार या ईकार बाद में होने पर श्रद्धा,सम्राज्ञीसुशमी,स्वधा, ऊती, पृथुज्रयी, पृथिवी, ईषा, मनीषा, अथा निद्रा, ज्या और प्रपा– ये पद प्रकृतिभाव को प्राप्त होते हैं।[6]

(7) पाद के आदि में स्थित स्वर परे होने पर 'सचा' पद प्रकृति भाव होता है।[7]

---

1. *ऋ0प्रा0 2/51*
2. *ऋ0प्रा0 2/52*
3. *ऋ0प्रा0 2/56*
4. *ऋ0प्रा0 2/57*
5. *ऋ0प्रा0 2/58*
6. *ऋ0प्रा0 2/59*
7. *ऋ0प्रा0 2/60*

(8) 'षु' में समाप्त होने वाला पद, जोषम्, चर्षणीः चर्वणिभ्यः, एकारान्त पद, मित्रयोः, अस्मत्, ईवत्, और नमस्युः ये पूर्व में स्थित हों तो अपृक्त आकार. ....यदि पाद के आदि मे स्थित स्वर बाद में हो तो प्रकृतिभाव हो जाता है।[1]

(9) लुश ऋषि के सूक्तों से पहले वाले सूक्तों में एकार या ओकार परे होने पर कण्ठ्य स्वर भी प्रकृतिभाव होते हैं।[2]

(10) गौतम ऋषि के सूक्तों में' अमिनन्त' पद भी प्रकृतिभाव होता है।[3]

(11) पाद के आदि में न आने वाला भी ऋकार बाद में होने पर विभ्वा, विधाती, विपन्या, कदा, या और माता ये पद प्रकृतिभाव को प्राप्त होते हैं।[4]

(12) परुच्छेप ऋषि के सूक्तों में अकार बाद में होने पर पूर्ववर्तीभीष और यथा–प्रकृतिभाव को प्राप्त होते है।[5]

(13) एवाँ अग्निम्' इस द्वैपद में भी प्रकृतिभाव उपलब्ध होता है।[6]

(14) ईम्, असदन्, अश्याम्, अकर्म, उद्धर्वम्, इयम्, अवस्तात्, उत और अस्ति पद बाद में आने पर क्रमशः ध्रुवाऊती, सदना, होतारां, ज्या, स्वधा, पृथिवी एवं प्रतिभा ये पद प्रकृतिभाव को प्राप्त करते है।[7]

(15) स्वर वर्ण बाद में रहने पर पूर्ववर्ती प्रगृह्य पद प्रकृतिभाव को प्राप्त करते हैं।[8]

---

1. ऋ०प्रा० 2/61
2. ऋ०प्रा० 2/62
3. ऋ०प्रा० 2/63
4. ऋ०प्रा० 2/64
5. ऋ०प्रा० 2/65
6. ऋ०प्रा० 2/66
7. वा०प्रा० 4/87
8. वा०प्रा० 4/88

(16) 'इति' पद बाद में आने पर पूर्वपदान्तीय ओकार प्रकृतिभाव को प्राप्त करता हैं।[1]

(17) स्पर्शभिन्न वर्ण से परवर्ती प्रगृह्य अपृक्त उकार प्रकृतिभाव को प्राप्त करता हैं।[2]

(18) 'इव' पद बाद में होने पर पूर्ववर्ती विश्पती पद उपस्थित पाठ में ही प्रकृतिभाव को प्राप्त करता है।[3]

(19) 'इति' पद बाद में रहने पर पूर्ववर्ती (लुत स्वर) प्रकृतिभाव से रहता है।[4]

इस प्रकार दोनो प्रतिशाख्यों में प्रकृतिभाव सन्धि के नियमों के विषय में उल्लेख किया गया है। वा.प्रा. के 4/89 में तथा ऋ.प्रा. के 2/53 एवं 2/55 में इसके अपवाद भी प्रस्तुत हैं।

स्वर ब्यजंन एवं व्यंजन-स्वर सन्धि-

स्वर–ब्यञ्जन एवं व्यञ्जन–स्वर सन्धि का विधान ऋ0प्रा0 में उपलब्ध है। ऋ0प्रा0 के अनुसार एषः, स्यः, सः, या स्वर पूर्व में हो और व्यञ्जन बाद में हो तो वे अनुलोम अन्वक्षर सन्धियाँ कहलाती है[5] और अनुलोम अन्वक्षर सन्धियों में एषः, स्यः, और सः का विसर्जनीय स्वर को छोड़कर लुप्त हो जाता है।[6]

वा0प्रा0 में कहा गया है कि पदान्त में स्वर तथा पदादि में व्यञ्जन होने पर दोनों के मेल को स्वर–व्यञ्जन सन्धि कहते हैं।[7]

---

1. *वा0प्रा0 4/93*
2. *वा0प्रा0 4/91*
3. *वा0प्रा0 4/90*
4. *वा0प्रा0 4/92*
5. *ऋ0प्रा0 2/8*
6. *ऋ0प्रा0 2/11*
7. *वा0प्रा0 एक परिशीलन, डॉ0 उमेश सिंह, पृ0 106*

स्वर--व्यञ्जन सन्धि के विपरीत व्यञ्जन स्वर·सन्धि में पहले (पूर्व में) व्यञ्जन और बाद में स्वर होता है। इसके विषय में कहा गया है कि स्वर और व्यंजन का विपर्यय होने पर प्रतिलोम अन्वक्षर सन्धियाँ होती है।[1] इनकी यह विशेषता है कि प्रतिलोम अन्वक्षर सन्धियों में प्रथम 'स्पर्श' तृतीय 'स्पर्श' हो जाते हैं।[2] वा0प्रा0 में भी यह विधान किया गया है कि पूर्वपदान्त में स्थित व्यञ्जन वर्ण और उत्तर पदादि में स्थित स्वर वर्ण में विकार होना अथवा प्रकृतिभाव से रहना व्यञ्जन स्वर–सन्धि है।[3]

व्यंजन सन्धि :-

दोनों प्रातिशाख्यों में व्यञ्जन सन्धि का विधान किया गया है। इस सन्धि में व्यञ्जन पदान्त तथा पदादि में आते हैं। ऋ0प्रा0 में व्यञ्जन सन्धि के अन्तर्गत इन को रखा जा सकता है – यथा– अवशंगम सन्धि, वशंगम सन्धि परिपन्त सन्धि, विसर्जनीय सन्धि, नकार के विकार, आगम और लोप।

अवशंगम सन्धि और वंशगम सन्धि :-

स्पर्श पूर्व में एवं व्यञ्जन बाद में होने पर 'अवशंगम' सन्धि होती है।[4] अर्थात् स्पर्श पदान्त और व्यञ्जन पदादि होने पर वह अवशंगम सन्धि होती है। इस सन्धि में स्पर्श और व्यञ्जन पास–पास आ जाते हैं, किन्तु कोई विकार नहीं होता है। वंशगम सन्धि में सम्बद्ध वर्णों में से किसी न किसी में विचार अवश्य होता है। इसलिए भाष्यकार उवट का कथन है कि इन सन्धियों में व्यञ्जन बिना किसी विकार के संयुक्त नहीं होते हैं।[5]

---

1. *ऋ0प्रा0 2/9*
2. *ऋ0प्रा0 2/10*
3. *वा0प्रा0 एक परिशीलन, डॉ0 उमेश सिंह, पृ0 106*
4. *ऋ0प्रा0 4/1*
5. *ऋ0प्रा0 4/14 पर उवटभाष्य*

इस विषय में ऋ0प्रा0 में विस्तृत विवेचन किया गया है जो इस प्रकार है–

1. सघोष व्यञ्जन बाद में होने पर वर्गों के प्रथम 'स्पर्श' अपने वर्ग के तृतीय स्पर्श हो जाते हैं।[1]

2. अन्तिम स्पर्श बाद में होने पर प्रथम स्पर्श अपना अन्तिम स्पर्श हो जाते हैं।[2]

3. सभी प्रथम स्पर्श–वर्णों से बाद में आने वाला शकार छकार हो जाता है।[3]

4. पद के अन्त में विद्यमान तथा अपने तृतीय स्पर्श में परिणत प्रथम स्पर्श से बाद में आने वाला पदादि हकार उस पूर्ववर्ती स्पर्श का चतुर्थ हो जाता है।[4]

5. पद के आदि में विद्यमान रेफव्यतिरिक्त अन्तःस्था बाद में होने पर मकार उस–उस अनुनासिक 'अन्तःस्था' में परिणत हो जाता है।[5]

इनके अतिरिक्त ऋ0प्रा0 में और छः सूत्र हैं जिनमें वंशगम सन्धि के विषय में कहा गया है।[6]

परिपन्त सन्धि :-

ऋ0प्रा0 में परिपन्त सन्धि के विषय में उल्लेख किया गया है कि रेफ अथवा ऊष्म वर्ण बाद में होने पर मकार अनुस्वार हो जाता है।[7] वस्तुतः परिपन्त शब्द 'परि' उपसर्ग पूर्वक पत् धातु से निष्पन्न है। इसका शाब्दिक अर्थ है चारो ओर से गिरना अर्थात् पूर्णरूपेण विनाश। तात्पर्य यह है कि रेफ या ऊष्म–वर्ण बाद में होने पर मकार गिर जाता है और उसके स्थान पर अनुस्वार आ जाता है। यथा– वसुं सूनुं सहसः। यहाँ वसुम् और सुनुम् के मकार नष्ट हो गये हैं और उनके

---

1. ऋ0प्रा0 4/2
2. ऋ0प्रा0 4/3
3. ऋ0प्रा0 4/4
4. ऋ0प्रा0 4/5
5. ऋ0प्रा0 4/7
6. ऋ0प्रा0 4/6, 4/8–12
7. ऋ0प्रा0 4/15

स्थान पर अनुस्वार आ गये हैं।[1]

विसर्जनीय सन्धि :-

वैदिक सन्धियों में विसर्जनीय सन्धि अत्यन्त महत्वपूर्ण है। आ ऊष्म–वर्णों में केवल विसर्जनीय पद के अन्त में आ सकता है। यह वर्ण सर्वदा ही पद के अन्त में आता है। विसर्जनीय परिस्थिति के अनुसार कभी–कभी र्, श्, ष्, स्, क, इन वर्णों में परिणत हो जाता है और कभी–कभी लुप्त हो जाता है। विसर्जनीय सन्धि के प्रसंग में रिफित और अरिफि इन दो पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग दोनों प्रतिशाख्यों में किया गया है। ऋ0भ0 के 28 सूत्रों में एवं वा0भ0 के नौ सूत्रों में रिफित विसर्जनीय का विधान किया गया है। संज्ञा परिभाषा प्रकरण में इक विवेचन हो चुका है। इनकी विशेषता यह है कि रिफित, विसर्जनीय का मूल रेफ होता है, किन्तु रेफ पद के अन्त में नहीं आ सकता है। इसलिए वह विसर्जनीय में परिणत हो जाता है। अरिफित विसर्जनीय का मूल रेफ न होकर सकार होता है। किन्तु रैफ की भाँति सकार भी पद के अन्त में नहीं आ सकता, वह भी विसर्जनीय में परिणत हो जाता है।

स्वरों तथा सद्योष व्यंजनों के पूर्व में आने पर रिफित विसर्जनीय रेफ में परिणत हो जाता है, किन्तु अरिफित विसर्जनीय कभी भी रेफ में परिणत नहीं होता है।

रिफित संज्ञक पदों के रिफित विसर्जनीय के आगे पद पाठ में इति शब्द का प्रयोग किया जाता है। यह 'इति' शब्द रिफित विसर्जनीय के रिफित स्वरूप को बतलाने के लिए प्रयुक्त होता है, किन्तु यह 'इति' शब्द केवल वही प्रयुक्त होता है, जहाँ संहिता पाठ में रिफित विसर्जनीय के रूप में रहता है। इसके विपरीत जहाँ संहिता पाठ में रिफित विसर्जनीय न होकर रेफ होता है, वहाँ

---

1. ऋ0प्रा0 एक परिशीलीन डॉ0 वीरेन्द्र कुमार शर्मा, पृ0 161

रिफित विसर्जनीय का स्वरूप स्पष्ट होने से पद पाठ में इति शब्द नहीं लगाया जाता है।

ऋ० प्रा० में विसर्जनीय सन्धि के नौ भेद बतलाये गये हैं :–

(१) नियत सन्धि :-

इसका विधान करते हुए कहा गया है कि सघोष व्यञ्जन बाद में होने पर अरिफित विसर्जनीय आकार हो जाता है।[1] यथा– पुनानाः। यन्ति। अनिविशमानाः (प०पा०) = पुनाना यन्त्यनिविशमानाः (सं०पा०) यहाँ 'पुनानाः' का अरिफित विसर्जनीय अव्यवहित पूर्ववर्ती वर्ण के सहित आकार हो गया है।

(२) प्रश्रित सन्धि :-

ह्स्व स्वर है पूर्व में जिसके वह अरिफित विसर्जनीय ओकार हो जाता है[2] अर्थात् प्रस्तुत सन्धि में अघोष व्यंञ्जन बाद में होने पर ह्स्व–पूर्व–विसर्जनीय (अः) ओ के सामने झुक जाता है, अर्थात् ओ के लिए अपना स्थान छोड़ देता है अथवा अः ओ के आश्रित हो जाता है।

ओकार भाव के विषय में वा० प्रा० में कहा गया है कि 'सिञ्च' पद बाद में होने पर हतः पद का विसर्जनीय उपधा सहित ओकार हो जाता है तथा उत्तरवर्ती दन्त्य–वर्ण मूर्धन्य–वर्ण हो जाता है।[3]

पुनः वा० प्रा० में उल्लेख है कि 'धि' संज्ञक व्यञ्जन वर्ण बाद में होने पर परवर्ती सोपध अरिफित विसर्जनीय उपधा सहित ओकार हो जाता है।[4] इस प्रकार वा० प्रा० के 4/44, 45 एवं 4/46 सूत्र में विसर्जनीय के ओकार भाव का विधान किया गया है।

---

1. *ऋ०प्रा० 4/24*
2. *ऋ०प्रा० 4/25*
3. *वा०प्रा० 3/46*
4. *वा०प्रा० 4/43*

(३) रेफ सन्धि :-

दोनों प्रतिशाख्यों में रेफ सन्धि का विधान है। ऋ0 प्रा0 के अनुसार स्वर या सघोष व्यञ्जन बाद में होने पर किसी भी प्रकार के स्वर के बाद में स्थित रिफित विसर्जनीय रेफ हो जाता है।[1] वा0 प्रा0 में भी इस सन्धि का विधान करते हुए कहा गया है कि 'पति' शब्द से परे रहने पर 'अहः' पद का विसर्जनीय रेफ हो जाता है।[2] वा0 प्रा0 में इस प्रकार अनेक 3/41, 4/37 स्थल हैं,जहॉ विसर्जनीय का रेफ भाव किया गया है।

(४) व्यापन्न सन्धि :-

व्यापन्न शब्द 'वि' तथा 'आ' उपसर्ग पूर्वक 'पद्' धातु से क्त प्रत्यय लगाकर निष्पन्न हुआ है। जिसका अर्थ है 'किसी अन्य ध्वनि में परिवर्तित किया हुआ। प्रस्तुत सन्धि में विसर्जनीय 'ऊष्म–वर्णों में परिवर्तित हो जाता है।[3] अतः इस सन्धि को व्यापन्न सन्धि कहते हैं। ऋ0 प्रा0 में इसके द़ो भेदों का विधान किया गया है – यथा

(1) ऊष्म–वर्ण नहीं है बाद में जिसके ऐसा अघोष 'स्पर्श' बाद में होने पर रिफित और अरिफित विसर्जनीय उस बाद वाले अघोष स्पर्श के समान स्थान वाले ऊष्म वर्ण हो जाते हैं।[4]

(2) अघोष ऊष्म–वर्ण बाद में होने पर विसर्जनीय वहीं परवर्ती ऊष्म वर्ण हो

---

1. *ऋ0प्रा0 4/27*
2. *वा0प्रा0 3/39*
3. *ऋ0प्रा0 4/35*
4. *ऋ0प्रा0 4/31*

जाता है।[1]

(५) विक्रान्त सन्धि :-

जहाँ विसर्जनीय ज्यों का त्यों रहता है वह विक्रान्त सन्धि है।[2] यह सन्धि दो प्रकार की है। यथा –

(1) ऊष्म–वर्ण नहीं है बाद में जिसके ऐसा कवर्ग अथवा पवर्ग का कोई अघोष स्पर्श बाद में होने पर पदान्त विसर्जनीय पदादि अघोष स्पर्श के समान स्थान वाले ऊष्म–वर्ण में विकल्प से परिणत होता है।[3]

(2) विसर्जनीय के बाद में ऐसा अघोष ऊष्म वर्ण हो जो दन्त्य के स्थान पर नहीं आया है तो विसर्जनीय विकल्प से ऊष्म वर्ण में परिणत होता है।[4]

(६) अन्वक्षरवक्त्र सन्धि :-

अन्वक्षरवक्त्र सन्धि में विसर्जनीय के बाद में व्यञ्जन (ऊष्म–वर्ण) होता है और बाद में अघोष व्यञ्जन होता है। इस प्रकार अन्वक्षरवक्त्र सन्धि का प्रारम्भ का अंश अन्वक्षर संधि के समान है। दोनों ही सन्धियों में विसर्जनीय के बाद में व्यंजन होता है। इसके अतिरिक्त जिस प्रकार अन्वक्षर सन्धि में विसर्जनीय का लोप होता है, उसी प्रकार अन्वक्षरवकत्र सन्धि में भी विसर्जनीय का लोप होता है। किन्तु यह लोप इस सन्धि के प्रारम्भ वाले अंश में ही होता है। ऋ0 प्रा0 में उल्लेख है कि अघोष व्यञ्जन है बाद में जिसके ऐसा नत भी ऊष्म–वर्ण बाद में होने पर पदान्त विसर्जनीय लुप्त हो जाता है।[5]

---

1. *ऋ0प्रा0 4/32*
2. *ऋ0प्रा0 4/35*
3. *ऋ0प्रा0 4/33*
4. *ऋ0प्रा0 4/34*
5. *ऋ0प्रा0 4/36*

(७) उपाचरित सन्धि :-

विसर्जनीय का सकार होना उपाचरित सन्धि है। दोनों प्रतिशाख्यों में विसर्जनीय के सकारभाव का विधान किया गया है। ऋ० प्रा० में इस उपाचरित सन्धि को दो भागों में विभक्त किया गया है–

(1) पद के मध्य में होने वाली उपाचरित सन्धि।

(2) दो पदों के मध्य में होने वाली उपाचरित सन्धि।

ऋ० प्रा० में इस सन्धि के विषय में विस्तार से चर्चा की गयी है। इसके 23 सूत्रों (4/42–64) में उपाचरित सन्धि के विषय में विधान है। वा० प्रा० के 3/8,3/24,3/25,3/26, 3/27, 3/28, 3/34, 3/35 और 3/36 में विसर्जनीय के सकारभाव का विधान किया गया है।

नकार के विकार :-

नकार परिवर्तनशील वर्ण होने के कारण अनेक रूपों को धारण कर लेता है। ऋ० प्रा० एवं वा० प्रा० दोनों में नकार के विकार को दर्शाया गया है। दोनों में मुख्य रूप से नकार का लोप, रेफ में परिणति एवं ऊष्म–वर्ण के समान कार्य का विधान किया गया है। ऋ० प्रा० के 4/65, 66, 4/68, 69, 70, 74, 76 एवं 4/78–79 में नकार के विकार को बतलाया गया है और वा० प्रा० के 3/134, 135, 140, 141 एवं 142 सूत्र में नकार के विकार भाव को बतलाया गया है।

आगम :-

व्यञ्जन सन्धि के अन्तर्गत 'आगम' का विधान दोनों प्रातिशाख्यों में किया गया है। साधारणतः आगम शब्द का अर्थ है अतिरिक्त वर्ण का आ जाना। आगम सन्धि स्थल में बिना कोई परिवर्तन किए होता है। वैयाकरण 'आगम' को मित्रवत मानते है। वा० प्रा० में आगम को व्यवधान कहा गया है।[1] क्योंकि दो पदों या वर्णों

---

1. वा०प्रा० – 4/18 पर उवटभाष्य

के मध्य में आया हुआ वर्ण पूर्ववर्ती एवं परवर्ती वर्ण के बीच व्यवधान का कार्य करता है। दोनों प्रातिशाख्यों में जिन आगमों का विधान किया गया है वे इस प्रकार हैं :–

(१) रेफ का आगम :-

'वन' इस पूर्व पद के बाद में 'सद्' शब्द होने पर दोनों के बीच में रेफ का आगम होता है।[1] यथा–तिष्ठत्। रथं। नः। धूःसदम्। वनऽसदम् (प0पा0) = तिष्ठद्रथं न धूर्षदं वनर्षदम्(सं0पा0)। वा0 प्रा0 के अनुसार 'वेट्' शब्द पूर्व में नहीं है ऐसे वन इस पूर्वपद और 'सद' इस उत्तर पद के मध्य में रेफ का आगम होता है।[2]

(२) शकार का आगम :-

ऋ0प्रा0 के अनुसार पुरू, पृथु या अधि शब्द पूर्व में और चन्द्र शब्द बाद में होने पर दोनों के बीच में शकार का आगम होता है। समास के पूर्व पद्य का अन्तिम स्वर यदि ह्स्व हो तब भी चन्द्र शब्द बाद में होने पर बीच में शकार का आगम हो जाता है।[3] वा0 प्रा0 के अनुसार सु शब्द पूर्व में रहे तथा चन्द्र शब्द बाद में रहे तो दोनों के मध्य में शकार का आगम होता है।[4] इस प्रकार दोनों प्रातिशाख्यों में शकार के आगम का विधान किया गया है।

षकार का आगम :-

'परि' पद्य के बाद में 'कृ' होने पर दोनों के बीच में षकार का आगम होता है।[5] यथा– परिऽकृण्वन्। अनिःकृतम् (प0पा0) = परिष्कृण्वन्ननिष्कृतम्।

---

1. ऋ0प्रा0 4/86
2. वा0प्रा0 3/49
3. ऋ0प्रा0 4/84
4. वा0प्रा0 3/54
5. ऋ0प्रा0 4/85

वा0 प्रा0 के अनुसार 'परिशब्द' पूर्व में हो तथा 'कृत' शब्द बाद में हो तो दोनों के मध्य में षकार का आगम होता है।[1]

सकार का आगम :-

वा0 प्रा0 में विधान किया गया है कि 'वन' शब्द पूर्व में होने तथा पति शब्द बाद में होने पर दोनों के मध्य में सकार का आगम होता है।[2] यथा– वनस्पतिः। 'ऋत' शब्द पूर्व में हो तथा 'पति' शब्द बाद में होने पर एवं 'अवर' शब्द पूर्व में तथा 'पर' शब्द बाद में होने पर सकारागम होता है[3] और तत् और 'बृहत्' शब्द पूर्व में तथा क्रमशः 'कर' और 'पति' शब्द बाद में होने पर मध्य में सकार का आगम होता है।[4]

ऋ0 प्रा0 के अनुसार 'अस्कृतोषम्' में सकार का आगम निपातन से हो गया है।[5]

ककार एवं तकार का आगम :-

ऋ0 प्रा0 के अनुसार ङकार के परे अघोष 'ऊष्मन्' होने पर दोनों के मध्य में ककार का आगम होता है[6] और तकार एवं नकार के बाद में सकार होने पर दोनों के मध्य में तकार का आगम होता है।[7] किन्तु वा0 प्रा0 के अनुसार सकार बाद में होने पर ङकार और नकार के मध्य में क्रमशः कंकार व तकार का आगम होता है।[8] यथा– प्राङ्। सोमः (प0पा0) = प्राङ्त्क्सोमः(सं0पा0)

---

1. *वा0प्रा0 3/53*
2. *वा0प्रा0 3/50*
3. *वा0प्रा0 3/51*
4. *वा0प्रा0 3/52*
5. *ऋ0प्रा0 4/88*
6. *ऋ0प्रा0 4/16*
7. *वा0प्रा0 4/17*
8. *वा0प्रा0 4/15*

चकार का आगम :-

ऋ0 प्रा0 में विधान किया गया है कि ञकार के बाद में शकार होने पर दोनों के मध्य में चकार का आगम होता है।[1] और वा0 प्रा0 के अनुसार स्वर पूर्व में होने पर तथा धकार बाद में होने पर दोनों के मध्य में सर्वच चकार का आगम होता है।[2] यथा– अ, छ, अच्छ (प0पा0) = अच्छा वदामसि (सं0पा0)

इनके अतिरिक्त वा0 प्रा0 में ककार, तकार एवं चकार आगम का अपवाद को भी अंकित किया गया है। इसके अनुसार सकार शब्द बाद में होने पर और ङ् न वर्ण पूर्ववर्ती होने पर दोनों के मध्य में ककार और तकार का आगम नहीं होता है।[3] तथा छकार बाद में होने पर एवं पूर्ववर्ती यस्य, अतिहाय और सह पद होने पर चकार का आगम नहीं होता है।[4] यथा–यस्य। छाया (प0पा0) = यस्यछाया (सं0पा0)

नति सन्धि :-

'नति' का शाब्दिक अर्थ है 'झुकना'। उच्चारण सौकर्य की दृष्टि से पूर्ववर्ती नामि स्वर के प्रभाव से दन्त्य वर्ण मूर्धन्य – वर्ण की ओर झुक जाता है अर्थात् दन्त्य– वर्ण के स्थान पर मूर्धन्य वर्ण हो जाता है। अतः इसे 'नति' कहते हैं,क्योकि प्रमुख उच्चारणावयव जिह्वा जो दन्त्य वर्णो के उच्चारण में सीधी रहती है, उसे मूर्धन्य–वर्णो का उच्चारण करने के लिए मोड़कर पीछे की ओर झुका दिया जाता है।

ऋ0 प्रा0 एवं वा0 प्रा0 दोनो में इस 'नति' सन्धि या मूर्धन्यभाव का विस्तार से वर्णन किया गया है। जिनके कुछ बिन्दुओं पर यहाँ विचार किया गया है।

---

1. *ऋ0प्रा0 4/18*
2. *वा0प्रा0 4/25*
3. *वा0प्रा0 4/16*
4. *वा0प्रा0 4/26*

नकार का मूर्धन्य भाव:-

(1) वा.प्रा. में नकार को मूर्धन्यभाव का विधान करते हुए कहा गया है कि 'समान पद में ऋकार, षकार एवं रेफ से परवर्ती न कार मूर्धन्य(णकार) हो जाता है।[1]

(2) ऋकार,षकार एवं रेफ से बाद में स्थित समानपदीय नकार स्वर, यकार, वकार, हकार, कवर्ग, पवर्ग, के द्वारा व्यवहित होने पर भी णकार हो जाता है।[2]

(3) प्र उपसर्ग पूर्वक नि एवं नुद् धातु के सभी रूप तथा हिनोमि पद का नकार णकार हो जाता है।[2]

(4) निषण्णय, रथवाहणम्, इन्द्र एणम्, परिणीयते, समिन्द्रणः, ऊरूष्याणः रक्षाणः, मोषणः, तुषुणा सत्या, स्वर्ण, अरस्थूरिणों और प्रणऽआयूंषि पदों में नकार निपातन से णकार हो जाता है।[4]

(5) परणिः पद का नकार निपातन से णकार हो जाता है।[5]

(6) ककार जिनके पूर्व में नहीं है ऐसे ऋकार रेफ और षकार पद के मध्य में वर्तमान नकार को मूर्धन्य बना देते हैं, यदि वे ऋकार,रेफु और षकार उसी सावग्रह पद में विद्यमान हो जिसमें नकार स्थित है।[6]

(7) सन्धि से उत्पन्न ऊष्म वर्ण नकार को णकार बना देता है, चाहे वह ऊष्म – वर्ण अवग्रह रहित पद्य में भी विद्यमान हो।[7]

---

1. वा०प्रा० 3/84
2. वा०प्रा० 3/85
3. वा०प्रा० 3/88
4. वा०प्रा० 3/86
5. वा०प्रा० 3/87
6. ऋ०प्रा० 5/41
7. ऋ०प्रा० 5/41

(8) कोई भी वर्ण पूर्व में होने पर रेफ और षकार भिन्न पद में स्थित तथा मूर्धन्य भाव में विघ्न करने वाले तीन मध्यम वर्गो के द्वारा अव्यवहित नकार को णकार बना देते हैं।[1]

(9) पूर्व में अवस्थित'प्र' और'परि' पद आनीत्, नु त्यम्,नोनुवुः,नोनुमः और नयति धातु से उत्पन्न सभी शब्दों को मूर्धन्य बना देते हैं।[2]

(10) पुरूप्रिया, ब्रह्म, सुतेषु, नेषि, दीर्घ को प्राप्त अकार में अन्त होनेवाला तथा षकार सहित पद, इन्द्र, मूर्धन्य भाव को प्राप्त, सु और स्म ये दो पद, सवनेषु, पर्षिः, स्वः, अर्यमा, उरू, परि,–इन पदों से बाद में आने वाला नः मूर्धन्य भाव को प्राप्त करता है।[3]

(11) गोरोहेण, निर्गमाणि, इन्द्रएणाः, इन्द्र एणम् स्वर्ण, पुरा णुदस्व,अग्नेरवेण,वार्ण और शक्र एणम्–इन स्थलों पर नकार णकार हो जाता है।[4]

(12) उस्रयाम्णे, अनुस्रयाम्णे, सुषाम्णे, वृषमणयवः अधिषवण्या और प्रण्यः– इन पदों में नकार निपातन से णकार हो जाता है।[5]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है ऋक् प्रतिशाख्यों के पञ्चम् पटल एवम् वा0 प्रा0 के तृतीय अध्याय में मूर्धन्यभाव का विधान है। दोनो में निपातन से नकार के मूर्धन्यभाव का भी विधान किया गया है। इसके अतिरिक्त दोनो प्रतिशाख्यों में नकार के मूर्धन्य भाव में अपवाद स्थलों को भी विस्तार पूर्वक चित्रित किया गया है अर्थात् ऋ0 प्रा0 के तेरह सूत्रों (5/42–53,5–9) में एवं वा0 प्रा0 के सात सूत्रों(3/89–95) में नकार के मूर्धन्यभाव के नियमों के अपवादों को

---

1. ऋ0प्रा0 5/56
2. ऋ0प्रा0 5/57
3. ऋ0प्रा0 5/58
4. ऋ0प्रा0 5/60
5. ऋ0प्रा0 5/54

बतलाया गया है।

सकार का मूर्धन्यभाव -

ऋ0 प्रा0 एवं वा0 प्रा0 दोनो में सकार को मूर्धन्यभाव का भी विस्तार पूर्वक चर्चा की गई है, जो निम्नवत् है–

(1) एक ही पद में वर्तमान भावि(अ,आ, व्यतिरिक्त) स्वर वर्ण बाद में स्थित'सकार' षकार हो जाता है।[1]

(2) भावि(अ,आ, भिन्न) स्वर से पश्चाद्वर्ती समानपदीय सकार अनुस्वार से व्यवहित होने पर भी षकार हो जाता है।[2]

(3) क् एवं रेफ से परववर्ती होने पर समानपदीय सकार षकार हो जाता है।[3]

(4) नि के पश्चात् सदित पद का सकार षकार हो जाता है।[4]

(5) नि से पयचात् ससाद पद का सकार षकार हो जाता है।[5]

(6) दो अक्षरो वाले ही पद से बाद में आने वाले 'सत्' और स्थः का सकार षकार हो जाता है।[6]

(7) अबह्वाक्षर पद से बाद में विद्यमान सु का ' सकार' षकार हो जाता है।[7]

(8) पद के आदि में विद्यमान स्य्, स्क, और स्न् भी मूर्धन्य भाव को प्राप्त होते हैं, यदि इनके पूर्व में अबह्वाक्षर नोमि पद हो।[8]

(9) एकार से भी बाद में विद्यमान 'सु' मूर्धन्य भाव को प्राप्त करता है, यदि नः बाद में हो।[9]

(10) सु,ऊती, नकिः,स्वैः,वि, उरु,नहि, अभि, त्री, नि, और हि इन शब्दों में से कोई भी पूर्व में होने पर 'सः' का सकार 'षकार' हो जाता है।[10]

---

1. वा0प्रा0 3/56
2. वा0प्रा0 3/57
3. वा0प्रा0 3/58
4. वा0प्रा0 3/59
5. वा0प्रा0 3/60
6. ऋ0प्रा0 5/4
7. ऋ0प्रा0 5/5
8. ऋ0प्रा0 5/66
9. ऋ0प्रा0 5/8
10. ऋ0प्रा0 5/3

इसी प्रकार ऋ० प्रा० के. 5/7,12,13,15,16,17,18,20,21,30,–38, एवं वा० प्रा० के 3/61–78 इन सूत्रों में सकार के मूर्धन्यभाव एवं उनके अपवादों की चर्चा की गई है।

इसके अतिरिक्त वा० प्रा० एवं ऋ० प्रा० में तकार एवं थकार के मूर्धन्यभाव का भी विधान है। ऋ० प्रा० के अनुसार 'एक पद के मध्य में विद्यमान भी और भिन्न पद में विद्यमान भी तकारवर्ग, टकारवर्ग हो जाता है, यदि षकार पूर्व में हों।[1]

वा० प्रा० के अनुसार मूर्धन्य षकार से बाद में आने वाले तकार एवं थकार वर्ण क्रमशः मूर्धन्य वर्ण टकार एवं ठकार हो जाते हैं।[2]

सामवश सन्धि :-

सामवश का शाब्दिक अर्थ है छन्दों के साम्य के निष्पन्न दीर्घता। ऋ० प्रा० के भाष्यकार उवट का कथन है कि छन्दो का समत्व है प्रयोजन जिन अन्वक्षर सन्धियों का वे सामवश सन्धियाँ कहलाती हैं।[3] प्रो० वीरेन्द्र कुमार वर्मा के अनुसार पद के अन्त में स्थित स्वर–वर्ण पद के आदि में स्थित व्यजंन से पूर्व में आने पर सामान्यतया ज्यों का त्यों रहता है। किन्तु कभी –कभी पद पाद में ह्स्व रूप में विद्यमान पदान्तीय स्वरवर्ण व्यञ्जन परें रहते संहिता पाठ में दीर्घ हो जाता हैं। ह्स्व, स्वर–वर्ण के इस दीर्घ होने को 'सामवश सन्धि कहते हैं।[4]

ऋ० प्रा० तथा वा० प्रा० दोनो में सामवश सन्धियों का विधान है किन्तु ऋ० प्रा० के सप्तम, अष्टम एवं नवम इन तीनो अध्याय में सामवश सन्धि का अत्यन्त विस्तार पूर्वक चर्चा की गई है। दोनो प्रातिशाख्यों में प्रतिपादित इस सन्धि का

---

1. ऋ०प्रा० 5/11

2. वा०प्रा० 3/79

3. ऋ०प्रा० 1/60 पर उवट

4. ऋ०प्रा० एक परिशीलन डॉ० वीरेन्द्र कुमार वर्मा, पृ० 208

संक्षिप्त प्रतिपादन किया जा रहा है।

पदान्त ह्स्व स्वर की दीर्घता -

वा0 प्रा0 में विधान किया गया है कि 'वकार बाद में होने पर अश्व, रश्मि, मति, सुमति, श्व, सुत, चारय,घृणि, सैदिम, इन्द्रिय,धारय,चित्र, भङ्गुर, बयुन, अश्वस्य, हृदय, घुष्यऋत्, अभि, अवत, अधि, अर्च,शक्ति ,परू एवं शचि पदों का अन्तिम ह्स्व –स्वर दीर्घ हो जाता है।[1] इस प्रकार वा0 प्रा0 के अनेक[2] सूत्रों में दीर्घ भाव(सामवश सन्धि) का उल्लेख किया गया है। यद्यपि उनका विवेचन आवश्यक है तथापि शोध प्रबन्ध की दीर्घता से निवृत्ति के लिए उनका यहाँ विवेचन नहीं किया गया है।

ऋ0 प्रा0 के पन्द्रह सूत्रों (7/5–19) में पदान्त, ह्स्व स्वर के दीर्घत्व का प्रतिपादन किया गया है। इन पन्द्रह में से तेरह सूत्रों में पदों के अन्तिम स्वर वर्णो के दीर्घत्व का विधान किया गया है और दो (7/8–9) में उन पदों को बतलाया गया है, जिनका पदान्त स्वर दीर्घ नहीं होता है।

ऋ0 प्रा0 के बारह सूत्रों (7/21–32) में ऐसे पदों के अन्तिम स्वरों के दीर्घत्व का प्रतिपादन किया गया है, जिनमें दीर्घत्व तभी होता है जब वे पाद के अन्त में स्थित नहीं होते हैं। इनमें से आठ सूत्रों (7/21–27,29) में इन पदों के अन्तिम स्वर वर्णो के दीर्घत्व का विधान किया गया है और तीन सूत्रों (7/30–32) में इन द्वैपदों के प्रथम पदों के अन्तिम स्वर वर्णो के दीर्घत्व का विधान किया गया हैं। 7/28 में चिद्यः के पूर्व में विद्यमान 'नु' के दीर्घत्व का निषेध किया गया है। यह 7/26 का अपवाद सूत्र है।

---

1. वा0प्रा0 3/97

2. वा0भ0 3/101, 102, 104, 105, 107–114, 116–118, 120–124, 126–129 आदि।

ऋ० प्रा० के चौबीय सूत्रों (7/33–56) में पाद के आदि में स्थित पदों के अन्तिम स्वर की दीर्घता का प्रतिपादन किया गया है। इनमें से तेईस सूत्र(7/33,35–56) सामान्य सूत्र है और एक (7/34) 7/33 का अपवाद सूत्र है। ऋ० प्रा० के सैतालीस सूत्रों (8/1–47) में पाद के मध्य में विद्यमान पदान्त स्वर के दीर्घस्व का विवरण दिया गया है। और इस प्रतिशाख्य के तीन सूत्रों (8/48–5 0) में पाद के अन्त में विद्यमान पदों के अन्तिम स्वरों के दीर्घत्व का विधान किया गया है तथा चौबीस सूत्रों (9/1–24) में पूर्वपद के अन्त में विद्यमान ह्स्व स्वरों के दीर्घत्व का प्रतिपादन किया गया है। ऋ० भ० में ऐसे अट्ठाईस सूत्र(9/25–52) है, जिनमें अवग्रह रहित पदों और पद्यों के मध्य मे विद्यमान ह्स्व स्वरों के दीर्घत्व का प्रतिपादन किया गया है। इस प्रकार ऋ० प्रा० में समावश सन्धियों के विधान किये गये हैं,– जिनक़ा सम्पूर्ण उल्लेख अर्थात् विचार नहीं किया गया है। इसका कारण विषय–वस्तु की बहुलता है। सभी बिन्दुओं पर विचार करने से शोध प्रबन्ध दीर्घता(विशालता) को प्राप्त हो सकता है। अतः यहाँ केवल संक्षेप में विषय वस्तुओं के विषय में उल्लेख कर दिया गया है।

पंचम अध्याय
स्वर प्रकरण

पंचम अध्याय

स्वर-प्रकरण

स्वरों की महत्ता :-

भारतीय वाङ्मय में जितनी भाषायें प्रचलित हैं, उनमें से वैदिक भाषा अन्यतम हैं। वैदिक भाषा में स्वरों के प्रति विशेष ध्यान दिया जाता है। इसलिए वैदिक भाषा को स्वर प्रधान भाषा भी कहा जाता है। स्वरों की व्यवस्था एवं तज्जनित उच्चारण विशेषता को अक्षुण्ण रखने के लिए ही आचार्यों ने वेदाध्ययन को गुरूमुखोच्चारणसापेक्ष बनाया है। वेद के वास्तविक अर्थ को जानने के लिए जितने भी साधन हैं, उनमें स्वरशास्त्र सबसे प्रधान है। व्याकरण और निरूक्त जैसे प्रमुख शास्त्र भी स्वर शास्त्र के अंग बनकर ही वेदार्थ–ज्ञान में सहायक होते हैं। स्वर–ज्ञान के बिना अर्थात् स्वर–शास्त्र की उपेक्षा से अर्थ का अनर्थ हो जाता है। समुचित प्रकार से किये गये सस्वर वेद पाठ की उपयोगिता बतलाते हुए याज्ञवल्क्य शिक्षा में निर्देश किया गया है कि उदात्तादि स्वर एवं वर्णो का शुद्ध प्रयोग तथा हाथ से उनका प्रदर्शनात्मक अध्ययन करने वाला व्यक्ति अपने अधीयमान ऋक्, यजु एवं साम से पवित्र होकर ब्रह्मलोक की प्राप्ति करता है।[1] इसलिए वेदों के वास्तविक अर्थ को समझने लिए उदत्तादि स्वरों का ज्ञान होना आवश्यक है।

शबरस्वामी ने स्वरों के महत्त्व को बतलाते हुए कहा है कि "उदात्तादि त्रैस्वर्य की जो व्यवस्था है वह मन्त्रों के अर्थ ज्ञान के लिए ही है।[2] वा0 प्रा0 के भाष्यकार उवट के अनुसार वैदिक मन्त्र किचिंत्मात्र भी उदात्तादि स्वर अथवा वर्ण से विपरीत उच्चारित होता है तो यज्ञ–कर्म की अपूर्णता हो जाती है।[3] पाणिनीय

---

1. या0शि0 – पृ0 32

2. मीमांसासूत्र – 9/2/31 पर शाबरभाष्य

3. वा0प्रा0 4/1 पर उवटभाष्य

शिक्षा में वैदिक शब्दराशि के गलत उच्चारण से होने वाली हानि को बतलाते हुए कहा गया है कि जो मन्त्र स्वर से या वर्ण से हीन होता है, वह मिथ्यारूप से प्रयुक्त होने के कारण अभीष्ट अर्थ को प्रकट नहीं करता है।[1]

ऋग्वेद के भाष्यकार वेंकटमाधव ने वेदार्थ ज्ञान में स्वरों के महत्त्व को बतलाते हुए कहा है कि "जिस प्रकार अन्धकार में दीपिका की सहायता से चलता हुआ व्यक्ति ठोकर नहीं खाता है उसी प्रकार स्वरों की सहायता से किये गये अर्थ स्पष्ट होते हैं।[2]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर सिद्ध यह होता है कि वैदिक वाङ्मय में स्वर का विशेष महत्त्व है। इसलिए दोनों प्रातिशाख्यों में स्वर के विषय में विस्तृत विवेचन किया गया है। जिसका संक्षिप्त तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करना हमारा लक्ष्य है।

ऋ० प्रा० एवं वा० प्रा० में स्वरविषयक विधान :-

ऋ० प्रा० के सम्पूर्ण तृतीय पटल में तथा बारहवें, पन्द्रहवें और सत्रहवें पटलों के कुछ सूत्रों में स्वर का प्रतिपादन किया गया है। वा० प्रा० के सम्पूर्ण द्वितीय अध्याय में, चतुर्थ अध्याय में अनेक सूत्रों में तथा षष्ठ अध्याय में स्वर सम्बन्धी विधान किये गये हैं। दोनों में प्रतिपादित स्वर विषयक विधान निम्नवत् हैं–

स्वर का स्वरूप :-

'स्वर' के लिए 'स्वार' शब्द का भी प्रयोग होता है। 'स्वार' शब्द स्वृ धातु से घञ् प्रत्यय लगाकर बनता है। दोनों के अर्थ एक समान ही है। दोनों के अर्थ

---

1. पाणिनीय शिक्षा, श्लोक 52

2. स्वरानुक्रमणी – 1/8

एक समान ही है। स्वर शब्द का व्युत्पत्ति मूलक अर्थ 'स्वयं राजन्ते इति स्वरा:' है।[1] माहेश्वर सूत्र के अच् प्रत्याहार वर्ण भी स्वर कहे जाते है।[2] वा0 प्रा0 में वर्ण–समाम्नाय के अन्तर्गत वर्ण, स्वरों का वर्णन पहले किया गया है।

निघष्टु के अनुसार स्वर पद का निर्वचन है "स्वर्यन्ते अर्था एभि:" अर्थात् जिनसे पदों के अर्थ प्राप्त किये जाते हैं, वे स्वर कहे जाते हैं।[3]
जो कर्णेन्द्रियों में स्वनन् (गूँज) कर मन को रंजन कर देता है, उसको भी स्वर कहा गया है।[4]

ऋ0 प्रा0 के 3/2 सूत्र में जो विधान किया गया है, उसे ज्ञात होता है कि 'स्वर' स्वर वर्णो के धर्म हैं, अर्थात् उदात्त आदि 'स्वर' स्वरों के ही धर्म हैं, व्यंजनों के नहीं।

याज्ञवल्क्य शिक्षा के अनुसार स्वर के आधार पर ही व्यञ्जन स्वर से युक्त हो जाते हैं अर्थात् स्वर–वर्ण उदात्त, अनुदात्त और स्वरित भी होता है। तीनों स्वर स्वर प्रधान हैं, अर्थात् स्वर–संज्ञक वर्णो पर आश्रित हैं। व्यञ्जन जिस स्वर वर्ण का अंग होता है उस स्वर वर्ण के समान स्वर वाला हो जाता है।[5]

स्वरों की संख्या :-

ऋ0 प्रा0 के अनुसार स्वर तीन हैं[6] (1) उदात्त (2) अनुदात्त और (3) स्वरित, किन्तु ऋ0 प्रा0 में ऐसे चार सूत्र हैं, जिन सूत्रों में सात, तीन, दो एवं एक स्वर

---

1. *महाभाष्य – 1/2/29*
2. *अच: स्वरा:, सिद्धान्तकौमुदी, संज्ञा प्रकरण*
3. *निघण्टु – 2/14*
4. *स स्वरो य: श्रुतिस्थाने स्वनन्रञ्जयते मन:, शब्दकल्पद्रुम*
5. *या0शि0 – 118*
6. *ऋ0प्रा0 3/1*

का क्रमशः विधान किया गया है।[1] इन विधानों के सम्यक् अनुशीलन से यह निष्कर्ष निकलता है कि उदात्त मुख्य स्वर है। इसी के अन्तर्गत उदात्तेत्तर तथा स्वरितगत उदात्त स्वर अन्तर्भूक्त है। अनुदात्त मुख्य स्वर है। इनके अर्न्तगत अनुदात्तेत्तर स्वर अन्तर्भूक्त हैं तथा निघात शब्द अनुदात्त का ही पर्याय है। स्वरित स्वतन्त्र स्वर है। अवशिष्ट एकश्रुति स्वर उदात्तस्वर के अतिरिक्त और कोई स्वर नहीं है। इस प्रकार स्पष्ट है कि प्रकृति की दृष्टि से उदात्तादि मूलतः तीन स्वर हैं।

उदात्तादि स्वरों का परिचय :-

उदात्त :-

उदात्त शब्द 'उत्' तथा 'आ' उपसर्ग पूर्वक 'दा' धातु से 'क्त' प्रत्यय लगाकर निष्पन्न हुआ है। उदात्त का शाब्दिक अर्थ है ऊपर उठाकर ग्रहण किया हुआ। ''उच्चैरादीयते इति उदात्तः'' अर्थात् उच्च स्वर से जिसका ग्रहण होता है वह उदात्त है।[2] ऋग्वेद प्रातिशाख्य में विधान किया गया है कि उदात्तादि स्वर अक्षर पर आश्रित होते हैं।[3]

वा० प्रा० में उदात्त का लक्षण करते हुए कहा गया है कि 'उच्च ध्वनि से उच्चारित होने वाला स्वर उदात्त कहलाता है।[4] ऋ० प्रा० एवं वा० प्रा० में उदात्त के लिए 'आयाम' को कारण बतलाया गया है। भाष्यकार उवट ने भी वायु के कारण गात्रों के ऊर्ध्वगमन को आयाम कहा है।[5] वा० प्रा० में उदात्त के विषय में यह भी कहा गया है कि ''स्वरित को छोड़कर पद एक उदात्त वाला होता है।[6]

1. वा०प्रा० 1/127–130
2. ऋग्वेद प्रातिशाख्य एक परिशीलन, वीरेन्द्र कुमार वर्मा, पृ० 218
3. ऋ०प्रा० 3/2
4. उच्चैरुदात्तः, वा०प्रा० 1/108
5. वा०प्रा० 1/31 एवं उवटभाष्य, ऋ०प्रा० 3/1 एवं उवटभाष्य
6. वा०प्रा० 2/1

ऋग्वेद में 'उदात्त' एवं 'प्रचय' की पहचान करने में होती कठिनाइयों को देखते हुए डॉ वीरेन्द्र कुमार वर्मा ने यह कहा है कि 'अनुदात्त' के बाद में स्थित बिना चिह्न वाला वर्ण उदात्त होता है और यदि किसी बिना चिन्ह वाले वर्ण के पूर्व में 'न' 'स्वरित' हो और न 'अनुदात्त' तब भी वह उदात्त होता है।[1]

अनुदात्त :-

ऋ0 प्रा0 में अनुदात्त के लिए 'विश्रम्भ' शब्द का प्रयोग किया गया है, जिसका शाब्दिक अर्थ है उच्चारणावयवों का ढीलापन अर्थात् अधोगमन। भाष्यकार उवट ने उच्चारणावयवों के नीचे जाने को 'विश्रम्भ' कहा है।[2]

वा0 प्रा0 में अनुदात्त का लक्षण करते हुए कहा गया है कि ''नीची ध्वनि से उच्चारित होने वाला स्वर'' अनुदात है।[3] वा0 प्रा0 के भाष्यकार उवट और अनन्त ने 'अनुदात्त' के लिए 'मार्दव' शब्द का प्रयोग किया है, जिसके शाब्दिक अर्थ को स्पष्ट करते हुए भाष्यकार कहते हैं ''वायु निमित्तक शरीरावयवों का अधोगमन 'विश्रम्भ' या 'मार्दव' है।[4]

उपर्युक्त मतों से यह स्पष्ट है कि अनुदात्त के उच्चारण में अनेक स्थितियाँ देखी जाती हैं यथा–

(1) प्रयत्न लहरी में मन्दता होती है एवं वह अधः प्रसृत होती है

(2) वह प्रयत्न लहरी उच्चारणीय स्व स्थान के अधोभाग में तत्तत् स्वर सम्बन्धीकरण द्वारा संघर्षित होकर उदात्त की अपेक्षा उच्चारण में स्निग्धता उत्पन्न करती है। वायु के अधः प्रसार और उच्चारणस्थान के अधोभाग में

---

1. ऋग्वेद प्रातिशाख्य एक परिशीलन, डॉ0 वीरेन्द्र कुमार वर्मा, पृ0 219

2 ऋ0प्रा0 3/1 एवं 3/2 पर उवटभाष्य

3. वा0प्रा0 1/109

4. वा0प्रा0 1/31 उवटभाष्य

संघर्ष होने पर कण्ठ विवर में अपेक्षाकृत विकास होता है।

स्वरित :-

ऋ0 प्रा0 में स्वरित के लिए 'आक्षेप' शब्द का प्रयोग किया गया है। 'आक्षेप' शब्द 'आ' उपसर्ग पूर्वक 'क्षिप्' धातु से निष्पन्न हुआ है। भाष्यकार उवट ने 'आक्षेप' को स्पष्ट करते हुए कहा है कि उच्चारणावयवों के तिरछे जाने को 'आक्षेप' कहते है।[1] ऋ0 प्रा0 के सूत्रों के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि 'स्वरित' में उदात्त तथा अनुदात्त धर्मो का सम्मिश्रण सभी अवयवों में समान रूप से नहीं होता है। स्वरित के आदि भाग में उदात्त धर्म रहता है।[2]

वा0 प्रा0 में स्वरित का विधान करते हुए कहा गया है कि "उदात्त और अनुदात्त इन दोनों के धर्म वाला स्वर स्वरित कहलाता है।[3] भाष्यकार उवट का कथन है कि उदात्त का प्रयत्न गात्रों का उर्ध्वगमन है तथा गात्रों का अधोगमन अनुदात्त का प्रयत्न है। इन दोनों प्रयत्नों के समाहार से जो स्वर उच्चारित होता है, वह स्वरित संज्ञक है।[4] वा0 प्रा0 में 'अभिघात' को स्वरित का प्रयत्न बतलाया गया है। भाष्यकार उवट के अनुसार 'अभिघात' का अर्थ शरीर का तिर्यग्गमन है।[5] वा0 प्रा0 के 1/32 में भी स्वरित के विषय में बताते हुए सूत्रकार ने कहा है कि शरीरावयवों के उर्ध्व एवं अधोगमन प्रयत्न से विशिष्ट प्रयत्न जन्य 'स्वरित' होता है।[6] स्वरित स्वर में कितना अंश उदात्त होना चाहिए और कितना अंश अनुदात्त, इस विषय में वा0 प्रा0 में कहा गया है कि उस स्वरित में प्रारम्भ की आधी मात्रा

---

1. *ऋ0प्रा03/1, एवं इसका उवटभाष्य*
2. *ऋग्वेद प्रातिशाख्य एवं परिशीलन, डॉ0 वीरेन्द्र कुमार वर्मा, पृ0 221 एवं ऋ0प्रा0 3/4*
3. *वा0प्रा0 1/110उवटभाष्य*
4. *वा0प्रा0 1/31 उवटभाष्य*
5. *वा0प्रा0 1/26 एवं इस पर उवटभाष्य द्रष्टब्य है।*

उदात्त होती है। भाष्यकार उवट के अनुसर स्वरित स्वर के आदि में उदात्त का अंश समझना चाहिए जो कि स्वर की आधी मात्रा काल वाला, होता है। यदि स्वरित स्वर एक मात्रा काल वाला, दो मात्रा काल वाला और तीन मात्रा काल वाला हो तो भी उनमें प्रारम्भ की आधी मात्रा उदात्त, शेष अनुदात्त की है।

स्वरित के भेद :-

वा0 प्रा0 में स्वरित के आठ भेद बतलाये गये हैं, वे निम्नलिखित हैं–

(1) जात्य

(2) अभिनिहित

(3) क्षैप्र

(4) प्रश्लिष्ट

(5) तैरोव्यंजन

(6) तैरोविराम

(7) पादवृत्त

(8) तथाभाव्य

उपर्युक्त स्वरित भेदों में से सात स्वरितों में पूर्ववर्ती स्वर उदात्त रहता है। तात्पर्य यह है कि जात्य स्वरित को छोड़कर अन्य सात स्वरितों में सन्धि से पूर्व अंश उदात्त रहता है।[1] सन्धिज स्वरितों के विषय में यह विधान है कि तीन स्वरित स्वर (अभिनिहित, क्षैप्र और प्रश्लिष्ट) में उत्तर पदादि अनुदात्त होता है।[2] जो स्वरित दो स्वरों की संधि से उत्पन्न होता ाहै, उसे संधिज स्वरित कहते हैं। अभिनिहित, क्षैप्र और प्रश्लिष्ट ये तीन स्वरित संधिज हैं।

ऋ0 प्रा0 में संधिज स्वरित संज्ञा का प्रयोग नहीं किया गया है, तथापि ऋ0

---

1. वा0प्रा0 1/112

2. वा0प्रा0 1/113

प्रा0 में विहित अभिनिहित, क्षैप्र और प्रश्लिष्ट इन तीन स्वरितों को संधिज स्वरित कहा जा सकता है, क्योंकि इनमें दो अक्षरों की संधि होती है और दो अक्षरों के स्थान पर एक नवीन अक्षर आ जाता है। संधिज स्वरितों का विवेचन अधोलिखित है–

अभिनिहित :-

ऋ0 प्रा0 में पाणिनीय व्याकरण की पूर्वरूप सन्धि को 'अभिनिहित' सन्धि कहा गया है। इसमें उल्लेख है कि अभिनिहित सन्धियों में 'उदात्त' पूर्व में होने पर और अनुदात्त बाद में होने पर संध्य स्वर स्वरित होता है।[1] आशय यह है कि पूर्ववर्ती उदात्त ए या ओ के साथ जब परवर्ती अनुदात्त अ का एकीभाव हो जाता है तब संध्य स्वर स्वरित हो जाता है और इसे अभिनिहत स्वरित कहते हैं। अभिनिहित स्वरित के विषय में वा0 प्रा0 में कहा गया है कि पदान्तीय एकार तथा ओकर से परे पदादि ह्रस्व अकार का अभिनिहित या पूर्वरूप हो जाता है।[2] पुनः उल्लेख है कि पदान्तीय उदात्त एकार, ओकार से परे पदादि अनुदात्त अकार क़ा लोप होने पर संधि के परिणामस्वरूप निष्पन्न स्वरित को अभिनिहित स्वरित कहते हैं।[3] यह भी उल्लेख है कि पूर्व पदान्तीय एकार, ओकार उदात्त होने पर एवं बाद में अनुदात्त अकार होने पर स्वरित स्वर होता है।[4] इस प्रकार के स्वरित अभिनिहित स्वरित कहलाते हैं।

क्षैप्र स्वरित :-

ऋ0 प्रा0 में यह विधान किया गया है कि क्षैप्र संधियों में उदात्त पूर्व में होने

---

1. ऋ0प्रा0 3/13
2. वा0प्रा0 4/12
3. वा0प्रा0 1/114
4. वा0प्रा0 4/63

पर और अनुदात्त बाद में होने पर सन्ध्यस्वर स्वरित होता है[1] अर्थात् जब क्षैप्र सन्धि में उदात्त विशिष्ट इ या ई तथा उ या ऊ का क्रमशः य् और व् बन जाता है, तब परवर्ती अनुदात्त विशिष्ट स्वर 'क्षैप्र–संज्ञक' स्वरित हो जाता है। ध्यातव्य है कि पाणिनीय व्याकरण की 'यण्' सन्धि ही प्रातिशाख्यों में 'क्षैप्र' सन्धि के नाम से प्रचलित है।

वा0 प्रा0 में संधि के अन्तर्गत क्षैप्र संज्ञा का प्रयोग नहीं है, किन्तु इस संधि का विधान किया गया है। वा0 प्रा0 के अनुसार उदात्त इकार, उकार का यकार तथा वकार होने पर क्षैप्र स्वरित होता है।[2] 4/47 में विधान है कि असवर्ण स्वर बाद में होने पर पूर्ववर्ती भावी (इकार, उकार) वर्ण अन्तःस्थ (य्,व्) हो जाता है और 4/49 के अनुसार उदात्त धर्मवान् (इ अथवा उ) के अन्तस्थ (य्, व्) हो जाने पर उत्तरवर्ती अनुदात्त अक्षर 'स्वरित' हो जाता है। पुनः वा0 प्रा0 में यह उल्लेख किया गया है कि 1/115 के नियमानुसार इस प्रकार की सन्धि से निष्पन्न स्वरित को क्षैप्र स्वरित कहते हैं।

प्रश्लिष्ट स्वरित :-

प्रश्लिष्ट सन्धि के कारण होने वाला स्वरित प्रश्लिष्ट स्वरित कहलाता है। पाणिनीय व्याकरण की दीर्घ सन्धि, गुण सन्धि एवं वृद्धि सन्धि को प्रातिशाख्यों में प्रश्लिष्ट सन्धि कहा जाता है। ऋ0 प्रा0 के अनुसार प्रश्लिष्ट सन्धि में एक ओर का स्वर वर्ण उदात्त होने पर संध्य स्वर–वर्ण भी उदात्त होता है,[3] किन्तु 3/13 में विधान किया गया है कि दो ह्रस्व इकारों की प्रश्लिष्ट सन्धि में पदान्त उदात्त और पदादि अनुदात्त की सन्धि से स्वरित की निष्पत्ति होती है।

---

1. *वा0प्रा0 3/13*
2. *वा0प्रा0 1/115*
3. *ऋ0प्रा0 3/11*

वा0 प्रा0 में यद्यपि प्रश्लिष्ट संज्ञा का प्रयोग नहीं किया गया है तथापि एक स्थल पर प्रश्लेष शब्द का प्रयोग अवश्व किया गया है। वा0 प्रा0 में प्रश्लिष्ट सन्धि का विधान करते हुए कहा गया है कि पूर्व पदान्त उदात्त धर्मवान् ह्रस्व इकार तथा उत्तर पदादि अनुदात्त धर्मवान् ह्रस्व इकार के प्रश्लेष में प्रश्लिष्ट स्वरित होता है।[1] पुनः वा0 प्रा0 में कहा गया है कि पूर्व पदान्तीय उदात्त धर्मवान् ह्रस्व इकार एवं उत्तर पदादि अनुदात्त धर्मवान् ह्रस्व ईकार की सन्धि में स्वरित हो जाता है। इस स्वरित की प्रश्लिष्ट स्वरित कहा जाता है।

ऋ0 प्रा0 के अनुसर स्वरित को सर्वप्रथम तीन मुख्य भागों में विभक्त किया जा सकता है–

(1) उदात्तपूर्व स्वरित

(2) जात्य स्वरित

(3) संधिज स्वरित

सन्धिज स्वरित का विवेचन किया जा चुका है। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि ऋ0 प्रा0 एवं वा0 प्रा0 दोनों प्रातिशाख्यों ने संधिज स्वरित के रूप में अभिनिहित, क्षैप्र एवं प्रश्लिष्ट स्वरित को ग्रहण किया है और इन स्वरितों की जो परिभाषाएँ दोनों प्रातिशाख्यों में की गयी हैं प्रायः एक दूसरे से साम्य रखते हैं।

जात्य स्वरित (असन्धिज स्वरित) :-

ऋ0 प्रा0 में जात्य स्वरित के विषय में यह विधान किया गया है कि एक पद में उदात्तपूर्व स्वरित' से अन्य जो स्वरित स्वर हैं उसे जात्य स्वरित कहते हैं।[2] 'जात्य स्वरित' का शाब्दिक अर्थ है 'जन्म या स्वभाव से ही स्वरित'। भाष्यकार उवट ने इस विषय में भाष्य करते हुए कहा है कि जाति से अर्थात् स्वभाव से

---

1. वा0प्रा0 1/116

2. ऋ0प्रा0 3/8

उदात्त और अनुदात्त की संगति के बिना जो स्वरित उत्पन्न होता है वह 'जात्य स्वरित' कहलाता है।[1] इस जात्य स्वरित के दो भेद हैं–

(1) अपूर्व :– जिस 'जात्य स्वरित' के पूर्व में कोई भी स्वर नहीं होता है।

(2) नीचपूर्व :– जिस 'जात्य स्वरित' के पूर्व में अनुदात्त स्वर होता है।

यह 'जात्य स्वरित' अपने अस्तित्व के लिए उदात्तपूर्व स्वरित के सदृश पूर्ववर्ती उदात्त पर निर्भर नहीं रहता है। इसलिए इसको 'स्वतन्त्र स्वरित' भी कहा जाता है। 'जात्य स्वरित' सर्वदा य् अथवा व् में अन्त होने वाले संयुक्त वर्ण के बाद वाले स्वर वर्ण पर ही आता है।[2] इसकी यह विशेषता है कि यह सभी परिस्थितियों में स्वरित रहता है। इसलिए यह नित्य स्वरित के नाम से भी परिचित है।

वा० प्रा० में इसके विषय में कहा गया है कि एक पद में अनुदात्तपूर्व एवं यकार वकार के सहित स्वरित हो उसे जात्य स्वरित कहते हैं।[3] भाष्यकार उवट के अनुसार नीचपूर्व यह विशेषण सम्भावना के लक्ष्य से है अतः कोई स्वर पूर्व में न होने पर भी 'जात्य' होता है।[4]

इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि दोनों प्रातिशाख्यों में 'जात्य स्वरित' को असंधिक स्वरित एवं नित्य स्वरित कहा गया है। नित्य इसकी अन्वर्थ संज्ञा है क्योंकि इस स्वरित का किसी नियम के प्रभाव से परिवर्तन नहीं होता है।

सामान्य स्वरित या उदात्तपूर्व स्वरित :-

ऋ० प्रा० के अनुसार एक पद में अथवा भिन्न–भिन्न पदों में जब पूर्ववर्ती उदात्त के प्रभाव से परवर्ती अनुदात्त स्वरित हो जाता है, तब उस स्वरित को

---

1. *ऋ०प्रा० 3/8 पर उवटभाष्य*
2. *ऋग्वेद प्रातिशाख्य एक परिशीलन, डॉ० वीरेन्द्र कुमार वर्मा, पृ० 225*
4. *वा०प्रा० 1/11*
5. *वा०प्रा० 1/11 पर उवटभाष्य*

'उदात्तपूर्व स्वरित' कहते हैं।[1] इस स्वरित को सामान्य स्वरित एवं 'परतन्त्र स्वरित' के नाम से भी जाना जाता है, क्योंकि पूर्ववर्ती 'उदात्त' पर ही इस स्वरित की सत्ता निर्भर है। ऋ0 प्रा0 में उल्लेख है कि 'उदात्त' है अव्यवहित पूर्व में जिसके उस स्वरित अक्षर को स्वभाव से 'अनुदात्त' समझना चाहिए।[2]

वा0 प्रा0 में इस उदात्तपूर्व या सामान्य स्वरित के विषय में विधान है कि उदात्त अक्षर के बाद में स्थित अनुदात्त अक्षर स्वरित हो जाता है।[3] पाश्चात्य विद्वानों ने इसको आश्रित स्वरित कहा है क्योंकि इसका स्वरित धर्म पूर्ववर्ती एवं परवर्ती उदात्त पर ही निर्भर रहता है।

ऋ0 प्रा0 के अनुसार 'उदात्तपूर्व स्वरित' को तीन उपभागों में विभक्त किया जा सकता है यथा–

(1) वैवृत्त स्वरित

(2) तैरोव्यञ्जन स्वरित

(3) तैरोविराम स्वरित या तैरोऽवग्रह स्वरित।

किन्तु वा0 प्रा0 में उदात्तपूर्व या सामान्य स्वरित के अन्तर्गत चार स्वरितों का समावेश है यथा–

(1) तैरोव्यञ्जन

(2) तैरोविराम

(3) पादवृत्त

(4) तथाभाव्य

दोनों प्रातिशाख्यों में उदात्तपूर्व या सामान्य स्वरित के अन्तर्गत जिन

---

1. ऋग्वेद प्रातिशाख्य एक परिशीलन, डॉ0 वीरेन्द्र कुमार वर्मा, पृ0 225

2. ऋ0प्रा0 3/7

3. वा0प्रा0 4/137

स्वरितों को स्वीकार किया गया है, उनका संक्षिप्त विवेचन आवश्यक है। अतः इनके स्वरूप के विषय में विवेचन किया जा रहा है।

वैवत्त स्वरित या पादवृत्त स्वरित -

ऋ0 प्रा0 के अनुसार' जहाँ विवृत्ति का व्यवधान होने पर भी पदान्त 'उदात्त' के कारण पदादि' अनुदात्त' स्वरित हो जाता है, उसे वैवृत्त 'स्वरित' कहते हैं।[1] यथा यः। इन्द्र।। सोमऽपातमः= य इन्द्र सोम् पातमः। प्रस्तुत उदाहरण में अनुदात्त इ पूर्ववर्ती उदात्त अ(य) के प्रभाव से स्वरित हो गया है। यह 'वैवृत्त स्वरित' है, क्योकि उदात्त अ (य) और अनुदात्त इ के मध्य में विवृत्ति है।

वा0 प्रा0 में इस स्वरित को पादवृत्त स्वरित कहा गया है। वा0 प्रा0 के अनुसार विवृत्ति से लक्षित होने वाला अर्थात विवृत्ति के स्थान में होने वाला स्वरित पादवृत्त स्वरित हो जाता है।[2] इससे स्पष्ट हो जाता है कि ऋ0 प्रा0 के अनुसार जो वैवृत स्वरित है, वा.प्रा. के अनुसार वही पादवृत्त स्वरित है, क्योंकि दोनो में विवृत्ति ही कारण है।

तैरोव्यञ्जन स्वरित -

दोनो प्रातिशाख्यों में तैरोव्यञ्जन स्वरित को ' उदात्त पूर्व या सामान्य' स्वरित का ही अंग माना है। ऋ0 प्रा0 के अनुसार 'तैरोव्यञ्जन' का शाब्दिक अर्थ है– व्यञ्जन का अन्तर्धान अथवा व्यंजन का तिरस्कार। जहाँ पूर्ववर्ती उदात्त और परवर्ती अनुदात्त के मध्य में व्यञ्जन का व्यवधान होने पर भी अनुदात्त स्वरित हो जाता है वह तैरोव्यञ्जन स्वरित कहलाता है। भाष्यकार उवट के अनुसार मध्य में व्यञ्जन का व्यवधान हो जिसमें उसे 'तैरोव्यञ्जन स्वरित' कहते हैं।[3]

वा0 प्रा0 के अनुसार नाना पद में अथवा एक पद में जहाँ व्यजंन का

---

1. *ऋ0प्रा0 3/17*
2. *वा0प्रा0 1/119*
3. *ऋ0प्रा0 3/18 एवं इस पर उवटभाष्य*

व्यवधान होने पर भी पूर्ववर्ती उदात्त के प्रभाव के कारण परवर्ती अनुदात्त स्वरित हो जाता है उस स्वरित को तैरोव्यञ्जन स्वीकृत कहते हैं।[1] इस प्रकार दोनो प्रतिशाख्यों ने 'तैरोव्यज्जंन स्वरित' के विषय में समान मत प्रस्तुत किया है। दोनो में व्यञ्जन के व्यवधान होने पर अनुदात्त सवरित् हो जाता है। इस लिए तैरोव्यञ्जन स्वरित के ' व्यञ्जन–सहित' स्वरित भी कहा जाता है।

तैरोविराम स्वरित अथवा तैरोऽवग्रह स्वरितः-

वा0 प्रा0 तैरोविराम के विषय में उल्लेख किया गया है कि अवग्रह पद का पूर्व पद उदात्त स्वरान्त हो जिसके प्रभाव से उस उत्तरपद का प्रथम अनुदात्त स्वरित हो जाता है, उसे तैरोविराम स्वरित कहते हैं।[2] यथा गोपेत्ावित्िगोपेतौ (प0पा0)= गो पेतौ(सं0पा0)। यहाँ उदात्त और स्वरित के मध्य में अवग्रह रूप विराम का व्यवधान होने के कारण ही इस विशेष भेद को तैरोविराम स्वरित कहते है। अवग्रह पद–पाठ में ही होता है। अतः यह स्वरित केवल पद पाठ में ही होता है। संहिता पाठ में यह तैरोव्यञ्जन स्वरित माना जाता है।

ऋ0 प्रा0 में भी तैरोविराम स्वरित का विधान मिलता है, जिसे प्रो0 वीरेन्द्र कुमार वर्मा ने अपने 'ऋ0 प्रा0 एक परिशीलन नामक पुस्तक में 'तैरोऽवग्रह' संज्ञा से अभिहित किया है।[3] के विषय में ऋ0 प्रा0 में कहा गया है। तैरोऽवग्रह संज्ञा के विषय में ऋ0 प्रा0 में कहा गया है कि "सन्धि को प्राप्त होकर भी एक न होने वाले अक्षरों का जैसा स्वर उपदिष्ट किया गया है वैसा ही अक्षरों 'का' स्वर अवग्रह होने पर भी जानना चाहिए।[4]

---

1. *वा0प्रा0 1/117*
2. *वा0प्रा0 1/118 (उदवग्रहस्तैरोविरामः)*
3. *ऋग्वेद प्रातिशाख्य एक परिशीलन, डॉ0 वीरेन्द्र कुमार वर्मा, पृ0 224*
4. *ऋ0प्रा0 3/24*

इस प्रकार दोनो प्रातिशाख्यों में 'उदात्त पूर्व' अथवा 'सामान्य स्वरित' के उपविभागों के विषय में विवेचन किया गया है। विवेचन से स्पष्ट होता है कि ऋ0 प्रा0 में जिसको 'तैरोऽवग्रह' स्वरित' कहा जाता है, उसी को वा0 प्रा0 में तैरोविराम नाम से अभिहित किया गया है और ऋ0 प्रा0 में जिसको वैवृत्त स्वरित' माना गया है, उसी को वा0 प्रा0 में पादवृत्त स्वरित कहा गया है। ऋ0 प्रा0 एवं वा0 प्रा0 दोनो में त्रैरवर्य (उदात्त, अनुदात्त, और स्वरित) की परिकल्पना स्पष्ट है। दोनो इसमें सहमत है। दोनो ने इन त्रैस्वर्य की संज्ञान के लिए अर्थात पहचान के प्रक्रम(स्थान) की सहायता लेते है। तीनो स्वरों के लिए क्रमशः उरः कण्ठ और शिर ये तीन स्थान बतलाये गये हैं। वा.प्रा. में तीन स्थान उल्लिखित है, किन्तु उनमे शिर के स्थान पर भूमध्य का उललेख किया गया है। वा0 प्रा0 में इन तीनो स्थानों को उदात्तादि त्रैस्वर्य से सम्बद्ध न करके सवनों से सम्बन्धित किया गया है। प्रातः सवन, मध्याह्न सवन और तृतीय सवन। ये तीन सवन हैं। इन तीनों सवनों से सम्बन्धित किया गया है। इन तीनो सवनो में उक्त तीनों स्थानो से जो उच्चारण होता है उसकी अभिव्यक्ति में उदाहरण द्वारा पाणिनीय शिक्षा में वाणी की भिन्नता का अच्छा स्वरुप बतलाया गया है। पाणिनीय शिक्षा में निर्देश दिया गया है कि प्रातः सवन्न में सिंह की गर्जना के समान उरः स्थित स्वर से वेद का अध्ययन या पाठ करना चाहिए। माध्यान्दिन सवन के कण्ठगत स्वर से चक्रवाक पक्षी के स्वर के समान उच्चारण करना चाहिए। तृतीय सवन में मयूर हंस या कोयल के स्वर के समान स्वर से बोलना चाहिए।[1]

प्रचयः-

ऋ0 प्रा0 एवं वा0 प्रा0 में उदात्त, अनुदात्त एवं स्वरित इन स्वरों के

---

1. *पा0शि0 36–37*

अतिरिक्त 'प्रचय' नामक स्वर का विधान किया गया है। वा० प्रा० में प्रचय के लिए'उदात्तमय' शब्द प्रयुक्त हुआ है–" स्वरितात् पदमुदात्तमयम्।[1] अर्थात् स्वरित स्वर से परवर्ती अनुदात्त स्वर उदात्तमय होता है।

ऋ० प्रा० में प्रचय के विषय में यह विधान है कि एक पद में 'जात्य स्वरित' और 'उदात्त पूर्व स्वरित के बाद में वर्तमान एक या अनेक अक्षरों का उच्चारण उदात्त के समान होता है[2] यथा– अदब्धव्रतप्रमतिः में छः अक्षर प्रचय है, जिनका उच्चारण उदात्त के समान होता है। पुनः ऋ० प्रा० मे यह कहा गया है कि उदात्त या स्वरित बाद में होने पर प्रचय का उच्चारण उदात्त के समान न होकर अनुदात्त के समान होता हैं।[3]

उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकालता है कि पूर्व में उदात्त होने पर अनुदात्त स्वरित हो जाता है और पूर्व में स्वरित होने पर अनुदात्त 'प्रचय' हो जाता है, किन्तु पूर्ववर्ती उदात्त के कारण एक ही अनुदात्त स्वरित होता है; जबकि पूर्ववर्ती स्वरित के कारण एक से अधिक अनुदात्त भी प्रचय हो जाते हैं, और जब पूर्ववर्ती स्वरित के प्रभाव से अनुदात्त विशिष्ट अक्षर'प्रचय' हो जाता है तब वह उदात्त के समान उच्चरित होने लगता है। नीची ध्वनि से उच्चारित होने वाला अक्षर अब ऊँची ध्वनि से उच्चारित होने लगता है ध्वनि के इस अधिक्य के कारण अनुदात्त स्वर 'प्रचय' कहलाने लगता है। इस प्रकार प्रचय कोई स्वतंत्र स्वर नहीं, अपितु परिस्थितिवशात् अनुदात्त ही प्रचय हो जाता है।

स्वरों की सन्धि -

ऋ० प्रा० एवं वा० प्रा० दोनो में स्वरों की संधिविषयक विधान किया गया हैं। ऋ० प्रा० के तृतीय पटल में छः सूत्रों में स्वरों की संधि के नियमों का

1. वा०प्रा० 1/141
2. ऋ०प्रा० 3/9
3. ऋ०प्रा० 3/10

विधान किया गया है और वा.प्रा. के चतुर्थ अध्याय के कतिपय सूत्रों के उदात्तादि स्वरों की संधि का विधान किया गया है, जिनका विवेचन किया जा रहा है–

(1) दो स्वर वर्णो की जिस संधि में एक (पूर्ववर्ती या उत्तरवर्ती) स्वरवर्ण उदात्त हो ,वहाँ संध्य स्वर वर्ण उदात्त होता है।[1]

(2) किन्तु अनुदात्त बाद में होने पर और स्वरित पूर्व में होने पर संधिज अक्षर स्वरित होता हैं।[2]

(3) दो इकारों की प्रश्लिष्ट सन्धि में ,क्षैप्र सन्धियों में और अभिनिहित सन्धियों में उदात्त पूर्व में होने पर और अनुदात्त बाद में हाने पर सन्धिज स्वर उदात्त न होकर स्वरित होता है।[3]

(4) माण्डुकेय आचार्य के मत से सभी प्रश्लिष्ट सन्धियों में पूर्ववर्ती उदात्त और परवर्ती अनुदात्त मिलकर स्वरित हो जाते हैं।[4]

(5) ये एक होने वाले अक्षरों के धर्म हैं।[5]

(6) बाद में आने वाले उदात्तों के साथ जो सन्धियाँ होती हैं उनमें सन्धिज स्वर–वर्ण उदात्त ही होता है।[6]

(7) पदान्त अथवा पदादि में स्थित उदात्त की जब पदादि या पदान्त में स्थित अनुदात्त या स्वरित के साथ सन्धि होती है तो दोनो की सन्धि से निष्पन्न स्वर उदान्त होता है[7]

(8) पूर्वपदान्तीय उदात्त धर्मवान् ह्रस्व इकार के साथ उत्तरपदादि अनुदात्त

---

1. ऋ०प्रा० 3/11
2. ऋ०प्रा० 3/12
3. ऋ०प्रा० 3/13
4. ऋ०प्रा० 3/14
5. ऋ०प्रा० 3/15
6. ऋ०प्रा० 3/16
7. वा०प्रा० 4/134

धर्मवान् ह्रस्व इकार की सन्धि में स्वरित स्वर होंता हैं।[1]

(9) पदान्त उदात्त इकार तथा उकार की पदादि अनुदात्त असमान स्वर–वर्ण के साथ अन्तःस्था सन्धि होने पर सन्धिस्थ अनुदात्त स्वर स्वरित होता है।[2]

(10) पूर्व पदान्तीय उदात्त धर्मवान ए तथा औ के साथ उत्तरपदादि अनुदात्त धर्मवान् अकार की अभिनिहित सन्धि में सन्धि के परिणामस्वरूप उत्पन्न स्वर स्वरित होता है।[3]

(11) देशे पद के उदात्त एकार की उत्तरपदादि अनुदात्त अभवत् के अकार के साथ अभिनिहित सन्धि होने पर स्वरित नहीं होता है।[4]

(12) पदान्तीय स्वरित धर्मवान्' अच्' के साथ उत्तरपदादि अनुदात्त एवं प्रचय धर्मवान्– अच् की सन्धि में सन्धि के परिणामस्वरूप उत्पन्न स्वर स्वरित होता है।[5]

इस प्रकार ऋ0 प्रा0 एवं वा0 प्रा0 दोनो में स्वरों की सन्धिविषयक विधान प्रस्तुत है। जिससे यह ज्ञात होता है कि सूत्रकार कात्यायन ने उदात्त सन्धि, एवं स्वरित सन्धि के नियमों तथा अपवादों का भी उल्लेख किया है, किन्तु अनुदात्त सन्धि के विषय मे सूत्रकार का कथन है कि आदेश के अभाव में यथास्थित रहती है–''अनादेशऽविकारः'' ऋ0प्रा0 में भी स्वरों के सन्धि विषयक नियम एवं अपवाद प्रस्तुत है। स्वरों की सन्धि में इन नियमों को ध्यान में रखा जाता है।

पदपाठ में स्वर -

ऋ0 प्रा0 में पदपाठ में स्वर सम्बन्धी जो नियम का विधान किया गया

---

1. वा0प्रा0 4/135
2. वा0प्रा0 4/49
3. वा0प्रा0 4/63
4. वा0प्रा0 4/64
5. वा0प्रा0 4/133

है,वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, इसलिए यहाँ उनका उल्लेख करना अत्यन्त आवश्यक प्रतीत होता है। ऋ0 प्रा0 के चार सूत्रों में नियमों का विधान किया गया है, जो केवल पदपाठ पर ही लागू होते हैं। अतः ऋग्वेद के पद–पाठ के स्वर के विषय में विशिष्ट ज्ञान के लिए निम्नलिखित सूत्र महत्त्व पूर्ण हैं–

1. परिग्रह में ' इति शब्द से समाप्त होने वाले पद से बाद में आने वाले तथा उस पदादि 'स्वर –वर्ण' से मिल कर जो एक हो गया है, उस 'इति' से बाद में आने वाले स्वर–वर्णो का अनुदात्त रहना आचार है,यदि वे दो स्वर(उदात्त और स्वरित) बाद में हो।[1] तात्पर्य यह है कि परिग्रह में इति के बाद में विद्यमान स्वर वर्ण अनुदात्त ही रहते हैं, 'प्रचय' नहीं होते हैं और यदि परवर्ती पद स्वर वर्ण से प्रारम्भ होने वाला है तब पदादि स्वरवर्ण से मिलकर एक हो जाने वाले 'इति' पद से बाद में विद्यमान स्वर वर्ण अनुदात्त ही रहते हैं, प्रचय नहीं।
2. सन्धि को प्राप्त होकर भी एक न होने वाले स्वर–वर्णो का जैसा स्वर उपदिष्ट किया गया है वैसा ही स्वर अवग्रह होने पर भी होता है।[2]
3. दो उदान्तों वाले पदों के उत्तर पद्यों के आद्य अक्षरों को पूर्व पद्यों के अन्तिम अक्षरों के साथ असंहितवत् (न मिले हुए के समान) जानना चाहिए।[3] इस प्रकार न मिला हुआ समझने से पूर्व–पद के अन्तिम स्वरवर्ण के स्वर का उत्तर पद के प्रथम स्वर वर्ण के स्वर पर प्रभाव नहीं पड़ता है। ज्ञातव्य है कि इससे पहले3/24 में यह कहा गया है कि स्वर के विषय में अवग्रह को अविद्यमानवत् माना जाता है, जिसंसे पूर्व पद और उत्तर पद– इन दोनोको मिला हुआ समझा जाता है। अतः पूर्व पद के अन्तिम

---

1. ऋ0प्रा0 3/23
2. ऋ0प्रा0 3/24
3. ऋ0प्रा0 3/25

स्वर वर्ण(अक्षर) के स्वर का प्रभाव उत्तर पद के प्रथम स्वर वर्ण के स्वर पर पड़ता है। इससे यह स्पष्ट है कि 3/25 सूत्र,3/24 का अपवाद सूत्र है।

4. दो उदात्त वाले पदों में 'तनू' और 'शची' जब पूर्व पद हों तब इनके अन्तिम अक्षरो को जात्य स्वरित के लुल्य समझना चाहिए या पूर्वपद को उत्तर पद से संहितवत् समझना चाहिए या असंहितवत्।[1]

इस प्रकार ऋ0 प्रा0 में पद पाठ में स्वर विषयक विधान किया गया है। प्रो0 वीरेन्द्र कुमार वर्मा के अनुसार सभी प्रतिशाख्यों की भाँति ऋ0 प्रा0 भी पदपाठ में स्वर विषयक नियमों का विधान कर अपने विषय का अतिक्रमण किया है।[2]

कतिपय विशिष्ट स्थलों में स्वर -

ऋ0 प्रा0 में कतिपय विशिष्ट वैदिक पादों के स्वर का भी विधान किया गया है। वा0 प्रा0 के भाष्यकार उवट ने भी स्वर की दृष्टि से वैदिक पदों का वर्गीकरण किया है। उनके अनुसार समस्त वेदों से स्वरमूलक पदों का स्वरूप ग्यारह[3] (11) प्रकार भी है, जिनका समावेश उदात्त मूलक,अनुदात्तमूलक और स्वरितमूलक पदभक्ति के अन्तर्गत किया गया है। उदात्त मूलक पदभक्ति के अन्तर्गत छः पदभक्ति समाहित है– यथा–

1– सर्वोदात्त

2–आद्युदात्त

3–मध्योदात्त

4–अन्तोदात्त

5–द्वयुदात्त

---

1. ऋ0प्रा0 3/26

2. ऋग्वेद प्रातिशाख्य एक परिशीलन, डॉ0 वीरेन्द्र कुमार वर्मा पृ0 238

3. वा0प्रा0 2/1

6–व्युदात्त

अनुदात्त मूलक पदभक्ति में 'सर्वानुदात्त' को समाहित किया गया है और स्वरित मूलक में चार पद भक्ति समाहित है–यथा–

1– सर्वस्वरित

2–आदिस्वरित

3–मध्यस्वरित

4–अन्तस्वरित

दोनो प्रातिशाख्यों में इन सबके विषय में अनेक सूत्रों का उल्लेख किया गया है, उन सूत्रों पर दृष्टिपात किया जा रहा है।

(1) प्रश्न का अभ्यास करने के बाद सभी शिष्य मिले हुए पदों को थोड़ा थोड़ा पृथक् करते हुए तथा 15/17 में उल्लिखित पदों के साथ 'इति' लगाते हुए उसी प्रश्न का बिना रूके समान सर्वोदात्त ध्वनि से पुनः उच्चारण करें।[1]

(2) जब ' ओ3म' तीन मात्राओं का होता है तब इसका उदात्त स्वर में उच्चारण होता है; जब ' ओ3म' चार मात्राओं का होता है तब इसका पहला आधा भाग(दो मात्रायें) अनुदात्त होता है और अवशिष्ट आधाभाग(दो मात्रायें) उदात्त होता है तब यह 'द्वयुदात्त' होता है।[2]

(3) बीस उपसर्गो में से एक अक्षर वाले नौ उपसर्ग उदात्त है, दो अक्षर वाले दश उपसर्ग आद्युदात्त है और एक उपसर्ग 'अभि' अन्तोदात्त होता है।[3]

(4) बाद वाले दो प्लुत,अक्षरो की अन्तिम मात्रा,'प्रचय' स्वर में वर्तमान होने पर अनुदात्ततर उच्चारित होती है।[4]

---

1. ऋ0प्रा0 15/16 2. ऋ0प्रा0 15/15

3. ऋ0 प्रा0. 12/22, 12/23, 12/24

4. ऋ0प्रा0 3/27

(5) दोनो प्लुतो की अन्तिम दो मात्रायें अन्य मात्राओं के पाद के समान स्वर वाली होती है।[1]

(6) उकार को छोड़कर अन्य अनुदात्त पद ऋग्वेद में पाद के प्रारम्भ में विद्यमान नहीं है।[2]

(7) 'प्रेदं ब्रह्म' हम इस सूक्त में प्रथम छः ऋचाओं में पञ्चम पाद और आदि से चतुदर्श पाद भी सर्वानुदात्त है।[3]

(8) अग्राउइ लाजी3न और शाची3न् ये तीन पद त्रिमासिक एवं सर्वोदात्त होते है।[4]

(9) प्रणव(ओंकार) पद तीन मात्रा वाला एवं सर्वोदात्त होता है।[5]

(10) 'इडा' पद से परवर्ती,नौ आमन्त्रित पद स्वान पद से परवर्ती छः आमन्त्रित पद, सिनीवालि पद से परवर्ती एक आमन्त्रित पद, तथा प्रजापतये से परवर्ती ब्रह्मन् पद आद्युदात्त होते हैं।[6]

(11) 'न रिष्येम' पद पूर्व में होने पर 'कदा' पद आद्युदात्त होता है।[7]

(12) 'धनदा' एवं 'रत्नधा' पद पूर्व में होने पर परवर्ती 'असि' पद आद्युदात्त होता है।[8]

(13) 'राट्' शब्द परे रहते पूर्ववर्ती यन्त्री शब्द आद्युदात्त होता है।[9]

(14) 'पौष' पद बाद में न होने पर 'रायः' पद आद्युदात्त होता है।[10]

---

1. ऋ०प्रा० 3/28
2. ऋ०प्रा० 17/27–28
3. ऋ०प्रा० 17/36
4. वा०प्रा० 2/50
5. वा०प्रा० 2/51
6. वा०प्रा० 2/21
7. वा०प्रा० 2/23
8. वा०प्रा० 2/41
9. वा०प्रा० 2/37
10. वा०प्रा० 2/42

(15) 'बद्ध' और 'हित' पद परे रहते पूर्ववर्ती त्रिधा शब्द, आद्युदात्त होता है।[1]

(16) शिवा, सुषदा, पयस्वती, ऋते, मधुमती, वर्वस्वान्, ओंजिष्ठः, भ्राजिष्ठः शुष्मिणी, भद्रवाव्याय, बन्द्यः, मेध्यः यमः, आदित्यः, त्रितः, सोमेन और स्वसा ये शब्द बाद में होने पर 'असि' पद आद्युदात्त होता है।[2]

(17) 'भूति' पद आद्युदात्त होता है।[3]

(18) सर्व, विश्व, मानुषा, आशाः, स्वाहा, वाजः, पयः, तथा नमः पद आद्युदात्त होता है।[4]

(19) 'दक्षिणा' पद आद्युदात्त होता है।[5]

(20) अव्यय व्यक्तिरिक्त अन्तः पद आद्युदात्त होता है।[6]

(21) मृग का वाचक होने पर 'कृष्ण' शब्द आद्युदात्त होता है।[7]

(22) प्रधान अर्थ का प्रतिपादक होने पर वह पद आद्युदात्त होता है।[8]

(23) परिमाणवाची मात्रा शब्द आद्युदात्त होता है।[9]

(24) शरीरांग के वाचक वर्ण शब्द आद्युदात्त होता है।[10]

(25) वीर्य (शक्ति) वाचक 'अन्तः' शब्द आद्युदात्त स्वर को प्राप्त होता है।[11]

(26) वर्णवाची 'रोहित' पद समास में न स्थित होने पर आद्युदात्त स्वर को प्राप्त करता है।[12]

---

1. *वा०प्रा० 2/44*
2. *वा०प्रा० 2/40*
3. *वा०प्रा० 2/22*
4. *वा०प्रा० 2/39*
5. *वा०प्रा० 2/29*
6. *वा०प्रा० 2/26*
7. *वा०प्रा० 2/25*
8. *वा०प्रा० 2/27*
9. *वा०प्रा० 2/28*
10. *वा०प्रा० 2/31*
11. *वा०प्रा० 2/34*
12. *वा०प्रा० 2/26*

(27) भूतकाल अर्थ का प्रतिपादक होने पर सुकृत पद आद्युदात्त स्वर को प्राप्त करता है।[1]

(28) वर्ण वाची 'एता' पद आद्युदात्त होता है।[2]

(29) नपुंसक लिंग में रहने पर 'महः' पद आद्युदात्त होता है।[3]

(30) नपुंसक लिंग का वाचक 'श्रवः' पद आद्युदात्त स्वर को प्राप्त करता है।[4]

(31) पदादि, नानार्थक, अपदपूर्व, आमन्त्रित पद आद्युदात्त होता है।[5]

(32) आमन्त्रित विभक्ति से व्यतिरिक्त 'ओषधीः' शब्द आद्युदात्त होता है।[6]

(33) 'पायु' शब्द से उत्तरवर्ती विशः पद अन्तोदात्त होता है।[7]

(34) अर्यमा, उर्वशी तथा अस्ति से परवर्ती आयुः पद अन्तोदात्त होता है।[8]

(35) रोचना , असौ बोधा, मे, पारम, पुर एतारः दिवः, कः अहम्, त्वम्, महीम्, य ईशे तथा ईशामन् से परवर्ती अस्य पद अन्तोदात्त होता है।[9]

(36) प्रत्नाम्, यज्ञस्य, हविषः, पाहि, इत्, पातम्, मध्वः, यजमानस्य, होतः, अजरासः, लोकः, ये पद बाद में रहने पर अन्य पद अन्तोदात्त हो जाता है।[10]

(37) इन्द्र तथा सोम पद पूर्व में तथा पूषा, अग्नि वायु, उत्तर पद में होने पर 'देवता' द्वन्द्व समास अन्तोदात्त होता है।[11]

---

1. वा०प्रा० 2/35
2. वा०प्रा० 2/32
3. वा०प्रा० 2/33
4. वा०प्रा० 2/24
5. वा०प्रा० 2/38
6. वा०प्रा० 2/59
7. वा०प्रा० 2/60
8. वा०प्रा० 2/61
9. वा०प्रा० 2/62
10. वा०प्रा० 2/55
11. वा०प्रा० 2/56

(27) भूतकाल अर्थ का प्रतिपादक होने पर सुकृत पद आद्युदात्त स्वर को प्राप्त करता है।[1]

(28) वर्ण वाची 'एता' पद आद्युदात्त होता है।[2]

(29) नपुंसक लिंग में रहने पर 'महः' पद आद्युदात्त होता है।[3]

(30) नपुंसक लिंग का वाचक 'श्रवः' पद आद्युदात्त स्वर को प्राप्त करता है।[4]

(31) पदादि, नानार्थक, अपदपूर्व, आमन्त्रित पद आद्युदात्त होता है।[5]

(32) आमन्त्रित विभक्ति से व्यतिरिक्त 'ओषधीः' शब्द आद्युदात्त होता है।[6]

(33) 'पायु' शब्द से उत्तरवर्ती विशः पद अन्तोदात्त होता है।[7]

(34) अर्यमा, उर्वशी तथा अस्ति से परवर्ती आयुः पद अन्तोदात्त होता है।[8]

(35) रोचना , असौ बोधा, मे, पारम, पुर एतारः दिवः, कः अहम्, त्वम्, महीम्, य ईशे तथा ईशामन् से परवर्ती अस्य पद अन्तोदात्त होता है।[9]

(36) प्रत्नाम्, यज्ञस्य, हविषः, पाहि, इत्, पातम्, मध्वः, यजमानस्य, होतः, अजरासः, लोकः, ये पद बाद में रहने पर अन्य पद अन्तोदात्त हो जाता है।[10]

(37) इन्द्र तथा सोम पद पूर्व में तथा पूषा, अग्नि वायु, उत्तर पद में होने पर 'देवता' द्वन्द्व समास अन्तोदात्त होता है।[11]

---

1. वा०प्रा० 2/35
2. वा०प्रा० 2/32
3. वा०प्रा० 2/33
4. वा०प्रा० 2/24
5. वा०प्रा० 2/38
6. वा०प्रा० 2/59
7. वा०प्रा० 2/60
8. वा०प्रा० 2/61
9. वा०प्रा० 2/62
10. वा०प्रा० 2/55
11. वा०प्रा० 2/56

(38) अग्निपूर्व पद एवं इन्द्र उत्तर पद का देवता द्वन्द्व समास अन्तोदात्त होता है।[1]

(39) 'ऋक्' पूर्व पद एवं 'साम' उत्तर पद का द्वन्द्व समास अन्तोदात्त है।[2]

(40) विचार अर्थ में प्रयुक्त दो 'आसीत्' पदों में प्रथम आसीत् पद अन्तोदात्त होता है।[3]

(41) बृहस्पति, वनस्पति, नराशंसः तनूनप्त्रे तनूनपात्, नक्तोषासा, उषासानक्ता, द्यावापृथिवी, द्यावाक्षामा, क्रतूदक्षाभ्याम्, एतवे, अन्वेतवे, इन पदों में दो वर्ण उदात्त होते है।[4]

(42) आमन्त्रित विभक्ति के अतिरिक्त देवता द्वन्द्व समास के समस्त पद द्वयुदात्त होते है।[5]

(43) 'इन्द्राबृहस्पतिभ्याम्' और 'इन्द्राबृहस्पती' इन पदों में तीन वर्ण उदात्त होते है।[6]

(44) गृभ, भुव, एवं अग्नि शब्द से बाद में स्थित 'यथा' पद सर्वानुदात्त होता है।[7]

(45) अग्ने पद पूर्व में होने पर उत्तरवर्ती घृतेन पद सर्वानुदात्त होता है।

(46) 'प्र' पूर्व में होने पर उत्तरवर्ती चकितः पद सर्वानुदात्त होता है।[8]

(47) इह पद पूर्व में होने पर उत्तरवर्ती श्रुतम् पद सर्वानुदात्त होता है।[9]

(49) कोई भी पद पूर्व में होने पर 'मन्ये पद सर्वत्र अनुदात्त होता है।[10]

---

1. *वा०प्रा० 2/57*
2. *वा०प्रा० 2/59*
3. *वा०प्रा० 2/47*
4. *वा०प्रा० 2/48*
5. *वा०प्रा० 2/49*
6. *वा०प्रा० 2/9*
7. *वा०प्रा० 2/11*
8. *वा०प्रा० 2/12*
9. *वा०प्रा० 2/14*
10. *वा०प्रा० 2/15*

(50) किसी भी पद से परवर्ती आमन्त्रित सर्वानुदात्त होता है। यदि वह ऋग्रूप मन्त्रों में पाद के आदि में न हो तथा बहुबचन का न हो।[1]

(51) पदपूर्व, अपादादि एवं अनानार्थक आमन्त्रित से अव्यवहित षष्ठी विभक्त्यन्त पद एकपदवत् भाव प्राप्त करता है। फलतः सर्वानुदात्त स्वर भी प्राप्त करता है।[2]

इस प्रकार दोनों प्रातिशाख्यों में स्वर के विषय में विस्तृत विचार किया गया है। दोनों प्रातिशाख्य मुख्य रूप से उदात्त, अनुदात्त एवं स्वरित– ये तीन स्वर मानते हैं और अन्य स्वरों का इन तीनों में अन्तर्भाव हो जाता है।

---

1. वा0प्रा0 2/17
2. वा0प्रा0 2/18

षष्ठ अध्याय

पदपाठ प्रकरण

अध्याय षष्ठ

पदपाठ प्रकरण

पदपाठ का महत्व :-

वेद की संहिताओं के यन्त्रों के अर्थ तथा उनके स्वरूप को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए पदपाठ का अत्यधिक महत्व है। पदपाठ को ही प्रकृति मानकर प्रातिशाख्य ग्रन्थों में संहिता के बनाने के विधान किये गये हैं। इसी की सहायता से क्रमपाठ, जटापाठ, घनपाठ और मालापाठ इत्यादि का प्रचलन हुआ जिससे वेद यन्त्र बहुत काल के अनन्तर आज भी ज्यों के त्यों सुरक्षित बने हुए हैं। पदपाठ से ही व्याकरण शास्त्र का उद्भव हुआ अर्थात् पदपाठ व्याकरणशास्त्र की प्रथम अवस्था है। वेदों के पदपाठ द्वारा उनकी प्रामाणिकता भी स्पष्ट होती है। यथा– ऋग्वेद के पदपाठकार शाकल्य के छः मन्त्रों का पदपाठ नहीं किया। इससे स्पष्ट होता है कि शाकल्य इन मन्त्रों को प्रामाणिक नहीं मानते है। इस प्रकार पदपाठ का विशेष महत्व है।

पदपाठ के प्रयोजन :-

किसी भी विषय के अध्ययन करने के पूर्व उसके प्रयोजन को जानलेना आवश्यक है। वा० प्रा० के अनुसार वर्ण, अक्षर, विभक्ति और पद के साथ वेद का अध्ययन, अध्यापन तथा श्रवण करना पुण्यदायक होता है।[1] आचार्य कात्यायन ने इस सूत्र में पदपाठ की महत्ता के साथ–साथ ही उसके प्रयोजन और उसके आवश्यकता की ओर भी संकेत किया है। इसके अतिरिक्त पदपाठ के कतिपय प्रयोजन इस प्रकार है–

---

1. *वेदस्याध्ययनाद्धर्मः सम्प्रदानात्तथा श्रुतेः।*
   वर्णशोऽक्षरशो ज्ञानाद्विभक्ति पदशोऽपि च।। वा०प्रा० 8/43

पद के मूल स्वरूप का ज्ञान :-

संहिता में स्थित पदों के वर्ण परस्पर तथा अपनी समीपवर्ती पदों के वर्णो से प्रभावित होते हैं। कभी–कभी इस प्रभाव के परिणामस्वरूप उनमें कुछ विकार इत्यादि हो जाता है जिसे सन्धि प्रकरण में कहा जा चुका है। ये विकार इत्यादि दोा प्रकार के होते हैं– (1) समीपवर्ती पद वर्ण के प्रभाव से यह विकार इत्यादि दो पदों के मध्य पदान्त तथा पदादि में होता है तथा.(2) पद के मध्य में यह विकार इत्यादि एक पद के मध्य में होता है। संहिता में विकृत रहने से पद के मूल स्वरूप का ज्ञान नहीं हो पाता है। पदपाठ में सभी पदों को अलग–अलग करके रखा जाता है, जिससे समीपवर्ती पद के वर्ण का प्रभाव एक दूसरे पर नहीं पड़ता और पद विकारादि से रहित होकर अपनी मूल स्वरूप में होते हैं। यथाि पीवोपसनानाम् (वा0 प्रा0 21/43) पीवः यहाँ संहिता में वा0 प्रा0 3/14 से पीवः के विसर्जनीय का लोप हो गया है तथा पदान्त आा और पदादि उकार मिलकर वा0 प्रा0 4/43 के अनुसार ओकार में विकृत हो गये हैं, जिससे संहिता में पूर्ववर्ती तथा परवर्ती पर विकार के कारण अपने मूल स्वरूप में नही दिखलायी पड़ते हैं। पदपाठ में विग्रह द्वारा अलग–अलग हो जाने पर पदादि उपवसन का प्रभाव पदान्त पीवः के विसर्जनीय पर नहीं पड़ जिससे विसर्जनीय का लोप नहीं होता। पदों के अलग–अलग होने से दोनों पदों में सन्धि के परिणाम स्वरूप कोई विकार नहीं होता। फलतः दोनों पद पदपाठ में अपने मूल स्वरूप में रहते हैं।

एक पद के अन्तर्गत हुए विकार इत्यादि को पदपाठ स्थितोपस्थित द्वारा दिखाकर पद के मूल स्वरूप को स्पष्ट किया जाता है। यथा– श्रेयस्कर पद के मूल स्वरूप को स्पष्ट किया जाता है। यथा– श्रेयस्करः (वा0 प्रा0 10/28) श्रेयस्करः यहाँ संहिता में वा0 प्रा0 3/29 के अनुसार एक पद में रूकार बाद होने से अकार है पूर्व जिसके ऐसे विसर्जनीय का सकार हो गया है। इसलिए संहिता

में विकृत हो जाने से विसर्जनीय सकार के रूप में दिखलायी पड़ता है। पदपाठ में इस पद के मूल स्वरूप को स्थितोपस्थित द्वारा स्पष्ट किया जाता है।

पद के मूल स्वर का ज्ञान :-

संहितास्थ पदों के परस्पर प्रभावित होने से उन पदों के स्वर भी समीपवर्ती पद के स्वर से प्रभावित होते हैं। इस प्रभाव के कारण पदों के स्वरूप के समान उनके स्वरों में भी परिवर्तन हो जाता है। यह परिवर्तन दो प्रकार से होता है– (1) पदान्त तथा पदादि, स्वर–वर्ण के संहिता में विकृत होने से तथा (2) पूर्ववर्ती तथा परवर्ती स्वर के प्रभाव से। इन दो प्रकार के होने वाले परिवर्तनों को स्वर प्रकरण में कहा जा चुका है। इन परिवर्तनों के कारण पदो के स्वर संहिता में अपनी मूलस्वरूप में नहीं दिखलाई पड़ते। पद पाठ के पदों के अलग–अलग हो जाने से एक पद के स्वर का भी दूसरे पद के स्वर पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। परिणामतः ये मूल रूप में विद्यमान रहते हैं। यथा– प्रार्ययतु (वा0 प्रा0 1/1) प्र यहाँ संहिता में पदान्त तथा पदादि अकार का एकीभाव विकार आकार होने के कारण वा0 प्रा0 4/32 से पूर्ववर्ती अकार का उदात्त स्वर तथा परवर्ती अकार का अनुदात्त स्वर मिलकर उदात्त स्वर हो गया है। पूर्ववर्ती आकार के उदात्त से प्रभावित होकर 'प' अक्षर का अनुदात्त स्वर वा0 प्रा0 4/13 से स्वरित हो गया है तथा उस स्वरित के प्रभाव से परवर्ती अनुदात्त स्वर वा0 प्रा0 4/139–140 के अनुसार प्रचय हो गये हैं। इस प्रकार से संहिता में अर्पयलु के सभी स्वर अपने मूल स्वरूप में नहीं दिखलाई पड़ते। पदपाठ में दोनों पद अलग–अलग होते हैं जिससे पूर्ववर्ती पद के स्वर का प्रभाव न पड़ने से अर्पयतु का स्वर अपने मूल रूप में स्पष्ट दिखलाई पड़ते हैं।

अर्थ का ज्ञान :-

संहितागत मन्त्रों के अर्थ का सुस्पष्ट ज्ञान पदपाठ की सहायता से होता

है। पद अपने अर्थ का ज्ञान कराते हैं। पद के अर्थो की जानकारी से हो जाने पर पदों से निष्पन्न मन्त्रों के अर्थ का बोध हो जाता है। मन्त्र में प्रयुक्त पदों को पदपाठ द्वारा ही जाना जा सकता है। यथा न तस्य प्रतिमा अस्ति (वा0 प्रा0 32/3) यहॉ पर नतस्य पद है अथवा न तस्य इसको पदपाठ द्वारा जान लेने के बाद ही इस मन्त्र का ठीक–ठीक अर्थ ज्ञात किया जा सकता है।

इसी प्रकार से पदपाठ द्वारा सन्देहास्पद पदों के विभक्ति, समस्त पद, उपसर्ग आख्यात, प्रकृति–प्रत्यय, प्रगृहय स्वर इत्यादि पूर्णरूपेण स्पष्ट हो जाता है।

पद :-

पद का लक्षण बतलाते हुए बाजसनेयी प्रातिशाख्य में कहा गया है कि जिससे अर्थ का बोध होता है, वह पद है।[1] इस सूत्र पर भाष्यकार उवट का कथन है कि अभिधान कराने वाला पद होता है। इसके द्वारा अर्थ प्राप्त किया जाता है अर्थ तक जाया जाता है, अर्थ ज्ञात होता है इसलिए यह पद कहलाता है।[2] पद संज्ञा का विधान करते हुए वा0 प्रा0 में कहा गया है कि अक्षरों का समुदाय अथवा अक्षर पद होते हैं।[3] ऋ0 प्रा0[4] एवं वा0 प्रा0[5] में पद के लक्षण तथा पद की संज्ञा विषयक विधानों से यह स्पष्ट होता है कि अर्थ बोध कराने वाला अक्षर अथवा अक्षरों का समुदाय पद है।

पद के प्रकार :-

वा0 प्रा0 के अनुसार पद चार प्रकार के होते हैं। (1) नाम (2) आख्यान (3)

1. *वा0प्रा0 3/2*
2. *अर्थाभिधाभिपदम्। पद्यते गम्यते ज्ञायतेऽर्थोऽनेनेति पदम्। वा0प्रा0 3/2 उ0*
3. *अक्षर समुदाय पदम्। अक्षरं वा। वा0प्रा0 8/57–58*
4. *ऋ0प्रा0*
5. *ऋ0प्रा0*

उपसर्ग और निपात।[1]

नाम :-

वा0 प्रा0 में नाम[2] का लक्षण प्रस्तुत करते हुए कहा गया है कि द्रव्य (सत्व) का अभिधान करने वाला पद नाम है।[3] भाष्यकार उवट का कथन है कि नाम से अभिप्राय है द्रव्य, धातु कारक और विभक्ति। उसमें सत्व की ही प्रधानता होती है।[4] तात्पर्य यह है कि कि नाम वह पद है, जिसके द्वारा मुख्यतः द्रव्य विशेष की प्रतीति होती है और साथ ही साथ धातु, द्रव्य के कारक तथा विभक्ति का भी बोध ा होता है। यथा– वरूणः वरूणः पद के कहने से मुख्यतः वरूणदेवता विशेष रूप द्रव्य की साथ ही साथ वरूणः पद के वृ धातु की, देवता विशेष रूप द्रव्य की साथ ही साथ तथा प्रथमा विभक्ति का अवबोध होता है। इसी प्रकार ग्रन्थ पदों को भी समझना चाहिए।

आख्यात :-

आख्यात पद का लक्षण करते हुए वा0प्रा0 में कहा गया है क्रिया का वाचक अर्थात् क्रिया का कथन करने वाला आख्यात है।[5] भाष्यकार उवट के अनुसार आख्यात का अभिप्राय है क्रिया, काल, कर्ता तथा वचन। उनमें क्रिया की ही प्रधानता होती है।[6] अर्थात् आख्यात पद के द्वारा मुख्यतः क्रिया का बोध होता है

---

1. वा0प्रा0 8/59–60

2. नाम शब्द नम् धातु से निष्पन्न है। ये गौण रूप से आख्यात पद में झुकजाने अथवा स्वयं को गौण रूप से आख्यात पद के अर्थ में झुका देते हैं इसी से ये 'नाम' कहे जाते हैं।

3. वा0प्रा0 8/62

4. वा0प्रा0 8/62 उवट भाष्य।

5. क्रियावाचकमाख्यातम्........... । वा0प्रा0 8/62

6. वा0प्रा0 8/62 उवटभाष्य

और साथ ही साथ क्रिया के काल, क्रिया के कर्ता तथा क्रिया के करने वालों की संख्या (वचन) का भी ज्ञान होता है। यथा पचति। इस पद के कहने से मुख्यतः पाक क्रिया, इस क्रिया के (वर्तमान) काल क्रिया के प्रथम पुरूष के (यजमान) कर्ता और क्रिया करने वाले की संख्या एक (एकवचन) का बोध होता है।

उपसर्ग :-

उपसर्ग का लक्षण प्रस्तुत करते हुए वा0प्रा0 में कहा गया है कि 'उपसर्ग' विशेषता करने वाले (विशेषता लाने वाले) होते हैं।[1] तात्पर्य यह है कि उपसर्ग आख्यात से मिलकर उनमें अथ्र में विशेषता ला देते हैं। इससे अर्थ में परिवर्तन हो जाता है। यथा – गच्छति का अर्थ है जाता है। इसमें आ उपसर्ग के मिलने से आगच्छति रूप बनता है और इसका अर्थ – आता है – यह हो जाता है।

निपात :-

वा0 प्रा0 में निपात के लक्षण के विषय में यह विधान किया गया है कि निपांत पाद को पूरा करने वाले होते हैं।[2] उवट का यह कथन है कि अर्थ की प्राप्ति न कराने वाले निपात पाद की पूर्ति के लिए प्रयुक्त होते हैं।[3] भाष्यकार उवट के इस कथन से यह प्रतीत होता है कि निपात दो प्रकार से प्रयुक्त होते हैं। (1) अर्थ के लिए और (2) पादपूर्ति के लिए जिन निपातों द्वारा मन्त्र में किसी अर्थ की प्राप्ति नहीं होती वे ही निपात पाद पूरक कहे जाते हैं।

पदों के गोत्र :-

वा0 प्रा0 में पदों का गोत्र बतलाते हुए कहा गया है कि नाम भार्गव गोत्र वाले आख्यात भारद्वाज गोत्र वाले उपसर्ग वशिष्ठ गोत्र वाले तथा निपात काश्यप गोत्र वाले कहे जाते हैं।[4] भाष्यकार उवट ने उपर्युक्त ऋषियों को पदों का दृष्टा

---

1. *उपसर्गो विशेषकृत .... । वा0प्रा0 8/62*
2. *निपातः पादपूरणः। वा0प्रा0 8/62*
3. *वा0प्रा0 8/62 उ0*
4. *वा0प्रा0 8/64–65*

मानते हुए कहा है कि भृगु ने नाम का दर्शन किया अथवा नाम भार्गव गोत्र वाले अथवा भृगु के समान गोत्र वाले हैं। भरद्वाज के द्वारा आख्यात का दर्शन किया गया अर्थात् आख्यात भारद्वाज गोत्र वाले अथवा भरद्वाज के समान गोत्र वाले हैं। वशिष्ठ द्वारा उपसर्ग का दर्शन किया गया अथवा उपसर्ग वशिष्ठ गोत्र वाले अथवा वशिष्ठ के समान गोत्र वाले हैं। निपात का दर्शन काश्यप ऋषि द्वारा किया गया अथवा निपात काश्यप गोत्र वाले अथवा काश्यप के समान गोत्र वाले हैं।[1]

पदों के देवता :-

वा० प्रा० में चारों प्रकार के पदों के देवताओं का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि "नाम वायु देवता वाले, आख्यात सोम देवता वाले, उपसर्ग अग्नि देवता वाले और निपात वरूण देवता वाले हैं।[2] अर्थात् नाम के देवता वायु, आख्यात के देवता सोम, उपसर्ग के देवता अग्नि और निपात के देवता वरूण हैं।

कतिपय विशिष्ट पदों का स्वरूप :– वा० प्रा० के पचीस सूत्रों (4/26–32, 145, 150–160,6/25) में कतिपय विशेष पदों का स्वरूप बतलाया गया है। इन पदों के स्वरूप का कथन पद पाठ तथा वेदार्थ विचार में सन्देह निवारण के लिए किया गया है। वा० प्रा० के सूत्रों में विहित पदों के स्वरूप इस प्रकार है–

स्वरान्तीय पद :-

(1) सम्भवः शुक्रः मन्थी, पृथ्वीम् तथा परो देवेभिः ये पद बाद में होने पर पृथिव्या पद सवरान्त होता है।[3] यथा– पृथिव्या। सम्। भव (प० पा०) पृथिव्या सम्भवः (वा० प्रा० 4/13) इत्यादि।

(2) च विश्वा, वः ब्रह्म, विश्वा, ढरी , युक्ताः ते शफानाम् जजान और न कम् ये पद बाद में होने पर इमा पद स्वरान्त होता है।[4] यथा इमा च विश्वा (वा०

---

1. वा०प्रा० 8/65 उ०

2. वा०प्रा० 8/66–67

3. वा०प्रा० 4/27 *4. वा०प्रा० 4/28*

प्रा० 9/23) इत्यादि।

(3) हवेमा और उतेमा– ये पद स्वरान्त होते हैं[1] यथा– मित्रा वरूणा, हवेमा (वा० प्रा० 21/8) विश्वकर्मन्तुितमा (वा० प्रा० 17/20) इत्यादि।

(4) विष्णो, ते, बभूव, नासत्या, भिषजा, या देवाः हविषः नो मृडातः नो अच्छ और विमुंच– ये पद बाद में होने पर ता पद स्वरान्त होता है।[2] यथा– ता विष्णों पाहि (वा० प्रा० 2/6) इत्यादि।

(5) ता वा पद भी स्वरान्त होता है।[3] यथा– ताता पिण्डानाम् (वा० प्रा० 25/32)

(6) क्रमशः हविः और दम्पति पद बाद में होने पर साध्या औरदा पद स्वरान्त होते हैं।[4] यथा– आर्शीदा दम्पती (वा० प्रा० 8/5)

(7) घिण्या वरिवों विदम् और घिष्ण्या युवम् में घिषष्या पद स्वरान्त होता है।[5] यथा – घिष्ण्या वरिवोविदम् (वा०प्रा० 20/74)

ऊष्मान्तीय पद :-

परिद्विषः त्वम्, त्वाम्, यदजयः विराजति, अनिराः, अवीवृघन, परिष्ठाः, सुक्षितयः, आशाः, ओषधीः, अमाहो, अमीवा, ह्वि माया, ते और असिये पद बाद में होने पर विश्वा पद ऊष्मान्त (विसर्जनीयान्त) होता है।[6] यथा– विश्वा परिद्विषः (वा० प्रा० 4/29) इत्यादि।

---

1. हवेमोतेमा च, वा०प्रा० 4/29

2. विष्णोते..........विमुञ्चेत्येतेषु ता – वा०प्रा० 4/30

3. ता ता च – वा०प्रा० 4/31

4. हविर्दम्पत्योः साध्या दा – वा०प्रा० 4/32

5. वा०प्रा० 4/33

6. विश्वा ऊष्मान्तं ....हिमायास्तेऽसीत्येतेषु – वा०प्रा० 4/26

दो प्रकार वाले पद :-

(1) आम्याय्यानो यमः, रमयै, घामयारूपम श्रवाय्यम्, नृपाययम्, पौरूषेय्या, हृदय्याम्, सहरय्या, निचाय्य, सान्त्रायय् और सन्ताय्म ये पद दो प्रकार वाले हैं।[1] यथा– आत्याय्यमानों यमः (वा० प्रा० 8/53) इत्यादि। इन पदों में वा० प्रा० 4/99 के अनुसार द्वारा निषेध हो जाता है।

एक प्रकार वाले पद :-

(1) ज्योतिः च्यवनः शैनः श्याम् श्यामाकाः, श्वेतः, ज्येष्ठः, ज्योक और ज्या– इन पदों में एक यकार होता है।[2] यथा– वृहज्ज्योतिः (वा० प्रा० 11/3) इत्यादि।

(2) जुषस्व यविष्ठ्य और शोचा यविष्ठ्य में भी एक ही यकार होता है।[3] यथा– शोचा यविष्ठम (वा० प्रा० 3/3) जुषस्व यविष्ठ्य (वा० प्रा० 11/73)

(3) पद के अवयव के रूप में विद्यमान स्य और ण्य में भी एक यकार होता है।[4] यथा– कस्य (वा० प्रा० 23/47) हिरण्यम् (वा० प्रा० 34/52)

(4) एक पद में स्वर है पूर्व में जिसके ऐसे शकार, चकार, और जकार का द्विरूच्चारण होने पर उनके बाद में एक यकार होता है।[5] यथा– अश्श्याम (वा० प्रा० 18/74) इत्यादि।

अपवाद :-

(1) व्यंजन बाद में होने पर स्वर है पूर्व में जिसके ऐसे द्विरूच्चारित शकार, चकार और जकार के बाद यकार नहीं आता।[6] यथा– अदृश्श्रम् (वा० प्रा०)

1. वा०प्रा० 4/150–151
2. वा०प्रा० 4/152–53
3. वा०प्रा० 4/154
4. वा०प्रा० 4/155
5. वा०प्रा० 4/156
6. वा०प्रा० 4/157

(2) जातुकर्ण्य के मतानुसार ऋषि के वाचक कश्यप पद से अन्य स्थलों में यकार नहीं होता।[1] यथा– मासाङ.कश्यम् (वा0 प्रा0 24/37) यह यकार का न होना जातुकर्ण्य के मत से है। प्रातिशाख्यकार के अनुसार यकार होता है। जैसा कि उदाहरण से स्पष्ट है।

(3) उच्चैः रज्जुः और मज्जानः में भी यकार नहीं होता है[2] यथा– उच्चघोषाय (वा0 प्रा0 16/19) इत्यादि।

(4) यर्न्तोतुरीत, यर्न्तेष्वग्निः परोमर्त्त और ये मर्शः इन पदों का भी मर्चः पद यकार रहित होता है।[3] यथा– मर्तोवुरीत (वा0 प्रा0 4/8) इत्यादि।

दो प्रकार वाले पद :-

शास्स्व ओर रास्सव– इन दोनों पदों में दो–दो सकार होते हैं।[4] यथा शास्स्व (वा0 प्रा0 21/61), रास्स्व (वा0 प्रा0 4/16)

दो स्पर्श वाले पद :-

(1) वेत्तु, वित्त्वा, अस्मद्द्रयरू, पात्रम्, अभित्यम्, मृत्तिकादध्वम्, समाववर्त्ति,, ऋद्दि, वृद्विः, अरादध्यै, अर्द्ध, शुद्ध, बुद्ध, नक्तम्, निषण्ण, स्विन्न, अन्त, और सन्त ये पद दो स्पर्श वाले हैं।[5] यथा– वेन्तु (वा0 1/19) इत्यादि।

द्विस्पर्श पद के अपवाद :-

(1) क्ष, वृचि, श्वि, स, ह, तथा य....इनके बाद में स्थित त्र में एक ही स्पर्श होता है।[6] यथा– वीध्याय (वा0 प्रा0 16/38) इत्यादि।

---

1. *वा0प्रा0 4/158*
2. *वा0प्रा0 4/159*
3. *वा0प्रा0 4/160*
4. *वा0प्रा0 4/145*
5. *वा0प्रा0 6/25–26*
6. *वा0प्रा0 6/27*

(2) गतिशील द्रव्यों के वाचक ईघ्र्याय वार्घीनसः और उद्रः.... इन पदों के संयोगादि में एक ही स्पर्श होता है।[1] यथा– वीघ्र्याय (वा० प्रा० 16/38) इत्यादि।

दो अनुनासिक वाले पद :-

वर्हिरड्ड्क्त , समङ्ङ्घ, परिवृङ्ङ्घ्ज्ञ, में तथा आरणन्ती को ध्वेडकर अन्य पदों में एक स्पर्श के पूर्व में दो अनुनासिक होते हैं।[2] यथा– वर्हिरङ्ङ्वताम् (वा० प्रा० 2/22) इत्यादि।

तीन स्पर्श वाले पद :-

उपोत्यित, उत्तम्मनम्, उजमान, इन पदों में तीन–तीन स्पर्श होते हैं।[3] यथा– उपोत्थितः (वा० प्रा० 8/55) इत्यादि।

पदपाठ के नियम :-

पदपाठ विषयक विधान दोनों प्रातिशाख्य में कहे गये हैं। ऋ० प्रा० में पदपाठ के सन्दर्भ में केवल संहितास्थ दीर्घ स्वरों के कतिपय विशिष्ट परिस्थितियों में पदपाठ में हस्व होने का विधान किया गया है। जिसका विवेचन प्रसंगवशात्! सन्धि प्रकरण में किया गया है। वा० प्रा० में पदपाठ में होने वाले स्वर, स्थितोपस्थित, अवग्रह, परिग्रह, और सङ्क्रम इत्यादि विषयक विधानों का विस्तृत विवेचन किया गया है।

(1) पदपाठ में संहिता के प्रकृतिभूत पदों को अलग–अलग उनके मूल मं रखा जाता है। पदों को अलग–अलग करके रखना ही पदपाठ (असंहित) कहा जाता है।[4] पदों को पृथक–पृथक करके रखने से उनमें विकार, लोप तथा

---

1. *इध्र्याय वार्घीनसोद्राश्चराश्वेत् – वा०प्रा० 6/38*
2. *बर्हिरङ्ङ्क्ताम्............ वा०प्रा० 6/30*
3. *वा०प्रा० 6/29*
4. *पदविच्छेदोऽसंहित, वा०प्रा० 1/156*

आगम इत्यादि नहीं होते।

(2) पदों के ध्वान्दस रूप को जो व्याकरण के अनुसार सिद्ध नहीं होते उन्हें पदपाठ में स्पष्ट किया जाता है। वा0 प्रा0 के 3/21 से लेकर तृतीय अध्याय की समाप्ति तक अन्तःपदीय विकारों को कहा गया है।[1] इन छान्दस विकारयुक्त पदों को पदपाठ में पहले कहकर पुनः उसके अविकारी रूप को उल्लेख विधान के अनुसार किया जाता है।[2]

(3) वा0 प्रा0 के पॉचवें अध्याय में विहित अवग्रह विषयक विधानों के अनुसार पदपाठ में स्थितोपस्थित द्वारा पृथक्करण किया जाता है।[3]

(4) वा0 प्रा0 के 4/166 से 4/179 तक सङ्क्रम विषयक विधान किया गया है। इन विधानों के अनुसार विहित गलतपद को पदपाठ में ध्वेड दिया जाता है। अर्थात गलत पदों का पदपाठ नहीं किया जाता है।

पदपाठ में स्वर-विषयक विधान :-

संहिता में पद अपने पूर्ववर्ती तथा परवर्ती पद से प्रभावित होते हैं। इसलिए उनके स्वरों का भी प्रभाव एक दूसरे पर पड़ता है। इस प्रभाव से कभी–कभी पदों के स्वर के मूलरूप में परिवर्तन हो जाता है। पदपाठ में पदों के पृथक–पृथक हो जाने से उनके स्वर परस्पर प्रभावित नहीं होते। अतः पदपाठ में पदों को उनके मूलस्वर के साथ रखा जाता है।

अवग्रह, प्रगृह्य, रिफित तथा ध्वान्दस विकार वाले पदों के मूलरूप को स्पष्ट करने के लिए उन्हें विधानानुसार स्थितोपस्थित पाठ के सहित रखा जाता है। स्थितोपस्थित का 'इति' पद निपात होने के कारण आद्युदान्त होता है।

---

1. *वा0प्रा0 3/19*
2. *अनितादन्तार्विकारागमं प्रागुत्वा, वा0प्रा0 4/22*
3. *वा0प्रा0 4/188*

स्थितोपस्थित में इति से पूर्ववर्ती पद का अन्तिम वर्ण इति के पदादि इन्कार के साथ तथा इति का अन्तिम वर्ण आवृन्त पद के पदादि वर्ण के साथ विधानानुसार वर्णविकार तथा स्वरविकार को प्राप्त करता है। यथा–आत्न्वानेम्यंः (वा. प्रा०) आतन्वानेम्य् इत्यांतन्वानेम्यं (प० पा०) यहाँ स्थितोपस्थित पाठ में वर्ण के विकार के साथ–साथ स्वर में भी विकार हुआ है। इति से पूर्ववर्ती पदान्तीय स्वरित परवर्ती पदादि इति के आद्युदान्त होने से अनुदात्त ही है तथा इति के पदान्त स्वरित स्वर के साथ द्वितीय आवृत्ति का अनुदात्त आकार अपनी अनुदात्तन्ता स्वरित हो गया है।

स्थितोपस्थित में स्वर विषयक विशिष्ट विधान :-

वा० प्रा० 1/148 के अनुसार स्वर के विषय में सावग्रह पद का पूर्वपद संहिता के समान स्वर को प्राप्त करता है और उत्तर पद भी संहिता के समान स्वर को प्राप्त करता है। यदि वह उत्तरपद सर्वानुदात्त हो।[1] तात्पर्य यह है कि पदपाठ के स्थितोपस्थित पाठ में इति के बाद पढे गये सावग्रह पद में पूर्व तथा उत्तर दो पद हो जाते हैं। उन दोनों पदों से पूर्वपद इति के साथ सन्धि होने पर संहिता के समान है। उन दोनों पदों में से पूर्वपद इति के साथ सन्धि होने पर संहिता के समान स्वर को प्राप्त करता है और पूर्वपद से परवर्ती उत्तर पद भी सर्वानुदात्त होने पर संहिता के समान स्वर को प्राप्त करता है। यथा–वहिनंतम्मितिवहिनं तमम् (वा० प्रा० 1/8) प्रस्तुत उदाहरण में इति से बाद में वहिनतम इस सावग्रह पद के पूर्व तथा उत्तर दो पद क्रमशः वहिन तथा तमम् है इसमें पूर्वपद वहिन की पूर्ववर्ती इति के साथ सन्धि होने पर तथा उत्तरवर्ती सर्वानुदात्त तमम् पद संहिता के समान स्वर को प्राप्त किया है, जिससे इति के प्रथम अक्षर इ के उदात्त स्वर के प्रभाव के द्वितीय अक्षर ति स्वरित न होकर वहिन

---

1. संहितावदवहग्रहः स्वरविधोपरं च सर्व चेदनुदात्तम। वा०प्रा० 1/148

के प्रथम अक्षर के उदात्त के प्रभाव से अनुदात्त ही है, वहिन का द्वितीय अक्षर प्रथम उदात्त के प्रभाव से प्रचम हो गया है, किन्तु अन्तोदात्त होने से उत्तर पद रूच अपने प्रकृत स्वर से ही विद्यमान है, जिससे इसके प्रथम अक्षर के अनुदात्त पर पूर्ववर्ती स्वरित का प्रभाव न पड़कर प्रकृत स्वर में ही है।

पदपाठ में स्थितोपस्थित विषयक विधान :-

वा0 प्रा0 पदपाठ के सन्दर्भ में स्थितोपस्थित विषयक विधान भी किये गये हैं। ये विधान पदावृत्ति के मध्य में आगम के रूप में विहित है, जो इस प्रकार हैं–

(1) पदपाठ में चर्चा[1] बाद में होने पर प्रगृह्य संज्ञक पद इति से व्यवहित हो जाता है। अर्थात् इति का आगम हो जाता है।[2] तथा अस्मे (वा0 प्रा0 4/22) अस्में इत्यस्में (वा0 प्रा0)

(2) अनिरूक्त (अर्थात् संहिता में जिसका रेफ स्वरूप ज्ञात नहीं हुआ है) रिफित विसर्जनीय वाला पद भी चर्चा बाद में होने पर इति से व्यवहित हो जाता है।[3] यथा पुनः प्राणः (वा0 प्रा0 4/15) पुनरितिपुनः 1 प्राणः (वा0 प्रा0) यहाँ यह उल्लेखनीय है कि रिफित विसर्जनीय दो प्रकार का होता है। (1) निरूक्त जिसका रेफ स्वरूप संहिता में स्पष्ट होता है। वह निरूक्ति रिफंत विसर्जनीय कहलाता है। यथा– पुनः प्राणः (वा0 प्रा0 4/15), प्रस्तुत विधान संहिता के अनिरूक्त रिफित विसर्जनीय के स्वरूप को पदपात में स्पष्ट करने के लिए किया गया है।

---

1. भाष्यकार उवट का कथन है कि चर्चा शब्देन इतिकरणात्परतो या तस्यैव पदस्य द्विरूक्तिः सोच्यते (वा0प्रा0 4/17 उ) अर्थात् इति शब्द से बाद में जो उसी पद का दुबारा कथन होता है, वह चर्चा कहलाता है।

2. प्रगृह्यं चर्चायाभितिना पदेषु (वा0प्रा0 4/17)

3. रिफितं च संहितायामनिरूक्तम्, वा0प्रा0 4/18

4. पदावृत्तौ चान्तरेण, वा0प्रा0 4/19

(3) पद का पुनर्कथन (पदावृत्ति) होने पर मध्य में इति का आगम हो जाता है।[4] तात्पर्य यह है कि वा0 प्रा0 के चार सूत्रों (4/20–23) में पदपाठ में होने वाले पदों के पुनर्कथन का विधान किया गया है। उन पदों के पुनर्कथन के स्थलों पर दोनों के मध्य में इति का आगम हो जाता है। इस विधान के समझने के लिए पदपाठ में होने वाले पदों की आवृत्ति के स्थलों को जान लेना चाहिए। जो इस प्रकार है–

(1) क्रमपाठ के सन्दर्भ में कही गयी पदावृत्ति पदपाठ में भी होती है। सुपद और अवसाले इनमें कहीं गयी पदावृत्ति को छोड़कर[1] तात्पर्य यह है कि पूर्वस्योन्तरस्य......(वा0 प्रा0 4/188) से अवसाने च (वा0 प्रा0 4/194) में क्रमपाठ के सन्दर्भ में होने वाली सिथतोपसिथत विषयक पदावृत्ति का विधान किया गया है। जैसे वा0 प्रा0 4/192 में यह कह गया है कि प्रगृह्य संज्ञक पदों का क्रमपाठ में पूर्वोत्तर सन्धान के बाद स्थितोपस्थित की जाती है।[2] यथा – अमी = इत्यमी (प0पा0) इन स्थितोपस्थित विषयक पदावृत्ति का विवेचन क्रमपाठ प्रकरण में किया जाएगा। इन विधानों में से सुपदे शाकटामनः प्रकरण में किया जाएगा। इन विधानों में से सुपदे शाकटामनः (वा0 प्रा0 4/189) और अवसाने च (वा0 प्रा0 4/194) में कही गयी स्थितोपस्थित विषयक पदावृत्ति को छोड़कर अन्य पदावृत्तियॉ प्रस्तुत विधान वा0 प्रा0 4/20 के अनुसार पदपाठ में भी होती है।

(2) विश्वतीव पद को भी पहले कहकर तत्पश्चात उस आवृत्ति की जाती है।[3] यथा– विश्पतीव (वा0 प्रा0 33/44) विश्पती इवैति श्पिती इव (वा0 प्रा0)ह इन पदावृत्ति स्थलों पर मध्य में इति रखकर स्थितोपस्थित पाठ किया जा

---

1. वा0प्रा0 4/20–21

2. प्रगृह्ये, वा0प्रा0 4/192

3. अनितावन्तर्विकारागमं प्रागुक्ता, वा0प्रा0 4/22

सकता है

पदपाठ में अवग्रह :-

अवग्रह शब्द अवब उपसर्ग पूर्वक ग्रह धातु से निष्पन्न हुआ है, सिजाका अर्थ है पृथक्करण भाष्यकार उवट ने वा0 प्रा0 5/1 के भाष्य में अवग्रह का अर्थ बतलाते हुए कहा है कि दो पदों को अलग–अलग ग्रहण करना अवग्रह है। वा0 प्रा0 में अवग्रह शब्द दो अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। (1) संज्ञा के अर्थ में सावग्रह पद के पूर्वपद के लिए और (2) सावग्रह पद के पृथक्करण के लिए। संज्ञा के रूप में विहित अग्रह का विवेचन संज्ञा परिभाषा प्रकरण में किया जा चुका है। यहाँ अवग्रह शब्द का प्रयोग पृथक्करण के अर्थ में किया जा रहा है। पदपाठ हमें समास तथा कतिपय प्रकृतिप्रत्यय को स्पष्ट करने के लिए सावग्रह पद का पृथक्करण कर दिया जाता है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि वाजसनेयि संहिता में सावग्रह पद का भी स्थितोपस्थित के रूप में हो पाठ होता है। स्थितोपस्थित में पढ़े जाने वाले इति से बाद में पुनरूच्चारित सावग्रह पद को अलग–अलग कर दिया जाता है। इसी अलगाव को अवग्रह कहा जाता है।

अवग्रह में मध्यावकाश काल :-

स्थितोपस्थित में इति के बाद पुनर्कथित सावग्रह पद का पृथक्करण करने के बाद उन पृथक किये गये पूर्व तथा उत्तर पूर्व तथा उत्तर पद के उच्चारण के मध्य में उच्चारण काल का थोड़ा सा व्यवधान हो जाता है। जिसे अवग्रह काल कहा जाता है। वा0 प्रा0 में अवग्रह काल को निर्धारित करते हुए कहा गया है कि वह पृथक्करण ह्रस्व स्वर के उच्चारण काल के समान काल वाला होता है।[1] अर्थात् पृथक्करण होने पर पूर्व तथा उत्तर पद के उच्चारण में ह्रस्व स्वर के समान उच्चारण काल का व्यवधान होता है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि ह्रस्व स्वर का

---

1. समासेऽवग्रहः .... । वा0प्रा0 5/1

उच्चारण काल एक माना है। अतः अवग्रह काल भी एक मात्रा काल वाला होगा।

अवग्रह के स्थल :-

वा0 प्रा0 में विहित अवग्रह के स्थल इस प्रकार हैं–

(1) समान पदों में पृथक्करण अवग्रह होता है।[1] भाष्यकार उवट ने समास का लक्षण करते हुए कहा है कि दो अथवा दो से अधिक पदों का वह समूह समास कहलाता है जो परस्पर आकाङ्क्षा से सम्बद्ध होते हैं। यह समास चार प्रकार होता है। इन चार प्रकार के समासों में अवग्रह होता है। यथा– विष्णुस्वरूप (वा0 प्रा0 6/20)

(2) दक्षिण पद समीप में न होने पर उत्कर्ष के वाचक तर और तम पद को पूर्वपद से अलग किया जाता है।[2] यथा–पूर्वतरम् (वा0 प्रा0 18/10) पूर्वतरमितिपूर्ण तरम (प0 पा0) वहिनतमम् (वा0 प्रा0 1/18) वहिन्नतममितिवह्नि तमम् (प0 पा0)

(3) वीतम्, हूतम्, गोपातम, रत्नधातम और वसुधातम....ये पद तम के पूर्व पद के साथ अलग किये जाते हैं।[3] यथा देववीतम (वा0 प्रा0 11/37), देववीतमनितिदेव–वीतम (प0 पा0) इत्यादि।

(4) सर्पदेवजनेभ्यः पद में पूर्व पद से पृथक्करण होता है[4] यथा–सर्पदेवजनेभ्यः (वा0 प्रा0 30/8) सर्पदेवजनेभ्यः इतिसार देवजनेभ्यः (प0 पा0)

(5) तूणवध्मम् में उत्तरपद से पृथक्करण होता है।[5] यथा– तृणवध्मम्

(6) रायस्पोवदे और विजवा में भी उत्तरपद से पृथक्करण होता है।[6] यथा

---

1. *वा0प्रा0 5/1 उवटभाष्य*
2. *तरतमयोश्चातिशमेऽदक्षिणप्रत्योसङ्गे, वा0प्रा0 5/29*
3. *वीतम हूतम.......... / वा0प्रा0 5/3*
4. *वा0प्रा0 5/4* 5. *वा0प्रा0 5/5*
6. *वा0प्रा0 5/6*

रायस्पोषदे (वा० प्रा० 5/1)

(7) मत्वर्थीय तद्धित वाद में होने पर पृथक्करण होता है यदि सम्बद्ध या व्याकरण के अनुसार विष्पन्न हो[1] यथा– मधुमत् मधुमर्दितिमधु–मत्

(8) शस् त्वम्, त्रा और ताति......ये बाद में होने पर पृथक्करण होता है।[2] यथा ऋतुशः (वा० प्रा० 23/50)

(9) धातु का अर्थ रखने वाला यकार बाद में होने पर स्वरान्त प्राप्ति पदिक से पृथक्करण होता है।[3] यथा वृषायमाणः (वा० प्रा० 20/29) वृषयमाण इति वृषयमाणः (वा० प्रा०)

(10) हस्व स्वर से बाद में स्थित भूतकालिक अर्थ का वाचक संप्रसारण द्वारा उष् रूप में न होने पर पृथक्करण होता है।[4] यथा– जाक्षिवांस (वा० प्रा० 8/19)

(11) प्रत्न, पूर्व, विश्व, डूम, और ऋतु......इनसे बाद में स्थित था से पृथक्करण होता है।[5] यथा– प्रत्नथा (वा० प्रा० 7/11) प्रत्यथेतिप्रत्न–था (वा० प्रा०) इत्यादि।

(12) हस्व स्वर और व्यंजन से बाद में यदि अकार से प्रारम्भ होने वाला विभक्ति प्रत्यय हो तो उसका पृथक्करण होता है।[6] यथा– तक्षभ्यः वा० प्रा० 16/27 तक्षभ्य इतितक्ष–भ्य (प० पा०)

(13) मूर्धन्यभाव को प्राप्त न हुआ सप्तमी विभक्ति के सु का पृथक्करण होता है[7] यदि वह सु हस्व स्वर अथवा व्यंजन से बाद में हो यथा– अत्सु (वा० प्रा०

---

1. *वा०प्रा० 5/8*
2. *वा०प्रा० 5/9*
3. *वा०प्रा० 5/10*
4. *वा०प्रा० 5/11*
5. *प्रत्नपूर्व विश्वेमर्तुभ्यस्था, वा०प्रा० 5/12*
6. *वा०प्रा० 5/13*
7. *वा०प्रा० 5/14*

12/32) अप्स्वित्य रूप सु (प0 पा0)

(14) वर्णवाचक और संख्या वाचक के समस्त पदों में विकल्प से पृथक्करण होता है।[1] यथा–धूमरोहित (वा0 प्रा0 24/2) धूम्ररोहित इतिधूम्र रोहितः (प0 पा0)

(15) अनुदात्त उपसर्य से परवर्ती क्रिया पद का पृथक्करण होता है।[2] यथा–उपस्तणन्ति (वा0 प्रा0 25/37) उपस्तृणनीत्युिप स्तृपन्ति (प0 पा0)

(16) त्र और श बाद में होने पर गिरि पद से पृथक्करण होता है।[3] यथा– गिरित्र (वा0 प्रा0 16/3) गिरित्रेति गिरित्र (प0 पा0) गिरिश (वा0 प्रा0 16/4) गिरिशेतिगिरि–श (प0 पा0)

(17) इव, कार, अयन्.... ये पद तथा आग्रदित पद बाद में होने पर पूर्वपद से पृथक्करण होता है।[4] यथा– सुचीव (वा0 प्रा0 20/70) सुचीवेति सुचि–इव (प0 पा0)

(18) एक पद से परवर्ती समीची पद में पृथक्करण होता है।[5] एक समीची (वा0 प्रा0 12/2) समीची इतिसम् ईची (प0 पा0)

(19) व्वायव, शंयोः, वहिर्द्धा, अस्मयुम्, मृण्मयीम्, सुम्नया, आशुया, साधुया, घृण्णुया, विशालतम् और अनुया इन पदों में पृथक्करण होता है।[6] त्वायवः (वा0 प्रा0 20/78) त्वाभव इतित्वा भवः (प0 पा0)

---

1. वा0प्रा0 5/15
2. वा0प्रा0 5/16
3. वा0प्रा0 5/17
4. वा0प्रा0 5/18
5. वा0प्रा0 5/19
6. वा0प्रा0 5/20

सङ्क्रम :-

सङ्क्रम पद को समझने के लिए पहले गलतपद और अगलतपद को जान लेना आवश्यक है। त्रिपदाद्यावर्तमाने (वा० प्रा० 4/166) इत्यादि विधानों के अनुसार विहित कतिपय पद या पदसमूह संहिता पाठ में जो दो या दो से अधिक बार आता है तब प्रथम स्थल को छोड़कर अन्यत्र उसे गलत्पद कहते हैं। इन गलत् पदों से अन्य पद अगलत्पद कहलाते हैं। वा० प्रा० 4/166 इत्यादि विधानों के अनुसार इन पदों को शुक्लयजुर्वेद संहिता के पदपाठ तथा क्रमपाठ में नहीं पढा जाता। पदपाठ तथा क्रमपाठ में इन गलत्पदों को छोड़ देना ही सङ्क्रम कहा जाता है। भाष्यकार उवट के अनुसार गलत्पदों को छोडकर अगलत्पदों के साथ सन्धान (सन्धि) करना संक्रम कहलाता है।[1] उवट के इस लक्षण से यह प्रतीत होता है कि सङ्क्रम का यह लक्षण क्रमपाठ को दृष्टि में रखकर किया गया है, क्योंकि पदपाठ में संहितागत पदों की अलगत्पद के साथ सन्धि नहीं प्राप्त होती। पूर्वोत्तर पद सन्धान क्रमपाठ में ही किया जाता है। किन्तु यह सङ्क्रम विषयक विधान पदपाठ तथा क्रमपाठ दोनों में ही प्राप्त होते हैं।

सङ्क्रम के स्थल :-

(1) संहिता में तीन या तीन से अधिक पदों की पुनरूक्ति होने पर पदपाठ में प्रथम स्थल को छोड़कर अन्यत्र पुनरूक्ति के स्थल पर उनका सङ्क्रम होता है।[2] यथा– प्रथम व संहिता में आया हुआ पद–समूह वयं स्याम पतयो रयीणाम् (वा० प्रा० 10/20) वयम्। स्याम। पतयः। रयीणाम् (प० पा०) नुरूक्त होने पर वयं स्याम पतयों रमीणाम् (वा० प्रा० 19/3–4) यहाँ पदपाठ में इस पद समूह का सङ्क्रम हो जाता है।

---

1. *वा०प्रा० 4/166 उवटभाष्य*
2. *वा०प्रा० 4/166*

(2) एक अनुवाक में एक पद या दो पदों का समूह भी जब तीन या तीन से अधिक बार आते हैं तब प्रथम स्थल को छोड़कर अन्यत्र (पुनरूक्ति के स्थल पर) सङ्क्रम होता है।[1] यथा– वाजश्च में प्रसवश्च में प्रयतिश्च में प्रसितिश्च में (वा0 प्रा0 18/1) वाजः । च। मे। प्रसव इति प्र–सवः। प्रयतिरितिप्रयति (प0 पा0) यहाॅ संहिता में 'च' में– इन पदों की एक ही अनुवाक में कई बार पुनरूक्ति हुई है।

(3) गूढ़ अर्थात मन्त्रस्वरूप एवं अर्थ की पूर्ति के लिए अनुषङ्ग से प्राप्त प्रच्छन्न, अव्यक्त, किन्तु विवक्षित पुनरूक्त पद में सङ्क्रम होता है।[2] यथा– इयं ते राड्यन्तासि यमनो ध्रुवोडसिवरूणः (वा0 प्रा0 9/22) यहाॅ संहिता में असि पद दो बार आया है, किन्तु मन्त्र स्वरूप तथा अपेक्षित अर्थ की पूर्ती के लिए यमनः और वरूणः के साथ भी असि पद अनुषङ्ग से प्राप्त होता है। अतः प्रथम स्थल को छोड़कर द्वितीय पुनरूक्ति के स्थल पर असि का सङ्क्रम हो जाता है।

(4) एक या एक से अधिक पदों की बहुत बार आवृत्ति होने पर आवृत्ति के स्थलों में सङ्क्रम होता है।[3] यथा– नयो हिरण्य बाहवे सेनान्ये दिशां च पतये नमो नमो वृक्षैभ्यः पशूनां पतये नमो नमः (वा0 प्रा0 16/17) प्रस्तुत उदाहरण में नमः पद वाजसनेयि संहिता के 16 वें अध्याय में बहुत बार आवृत्त हुआ है। अतः आवृत्ति के स्थलों पर नमः पद में सङ्क्रम हो जाता है। पतये पद को भी इसी प्रकार समझ लेना चाहिए।

(5) संहिता में मन्त्र प्रतीक के रूप में आवृत्त हुए मन्त्रांशों का सङ्क्रम होता है।

1.वा0 प्रा0 4/167, 173

2. गूढे, वा0 प्रा0 4/174

3. पद समूहे, वा0प्रा0 4/175

यथा– लोकन्ता इन्द्रम् (वा० प्रा० 12/54) पदपाठ में इसका सङ्क्रम हो जाता है।

सङ्क्रम के लिए अनिवार्य परिस्थितियाँ :-

उपर्युक्त स्थलों पर सङ्क्रम तभी होता है, जब उन स्थलों पर अधोलिखित सभी परिस्थितियाँ उपलब्ध हो।

(1) अव्यवधानता –

प्रथम स्थल पर आर्य हुए पदसमूह से व्यवधान रहित पुनरूक्त पद अथवा पदसमूह का सङ्क्रम होता है।[1]

(2) अपराङ्गता :–

जब पुनरूक्त पद अन्य दूसरे का अंग होता है, तभी सङ्क्रम होता है।[2] तात्पर्य यह है कि आवर्तित पद या पदसमूह अर्थ की दृष्टि से अपने में पूर्ण नहीं होते, अपितु दूसरे पदों का अंग होते हैं तो उनमें सङ्क्रम होता है।

(3) स्वरों की समानता :–

पुनरूक्त पदों में स्वर की समानता होने पर अर्थात् स्वरों में भिन्नता न होने पर सङ्क्रम होता हैं।[3] तात्पर्य यह है कि जब संहिता में आवृत्त पद या पद समूह उदात्तादि स्वरों की दृष्टि से प्रथम स्थल पर आये हुए पद समूह या पदसमूह के समान होते है तभी पुनरूक्तपद या पद समूह सङ्क्रमजीय होता है।

(4) लिंग में समानता :–

पुनरूक्त पद या पदसमूहों में लिंग की समानता अर्थात् लिंग में भिन्नता न होने पर सङ्क्रम होता है।[4] तात्पर्य यह है कि जब संहिता में पुनरूक्त पद या

---

1. वा० प्रा० 4/168

2. वा० प्रा० 4/169

3. अस्वरविकारे, वा०प्रा० 4/170

4. अलिंगविकारे, वा०प्रा० 4/171

पदसमूह प्रथम स्थल पर आये हुए पद या पदसमूह के समान लिंग वाला होता है, तभी वह सङ्क्रमणीय होता है।

(5) भिन्न पदार्थ से सम्बद्धता :–

भिन्न (असमान) पदार्थ से सम्बद्ध पुनरूक्त पद में सङ्क्रम होता है।[1] अर्थात् जिन पुनरूक्त पद या पदसमूह में साध्य और साधन की असमानता होने सङ्क्रम होता है।

सङ्क्रमता का निषेध :-

(1) संहिता के मन्त्रों के अवसान को द्योतित के लिए पुनरूक्त अवसानस्थ पद या पदसमूह का सङ्क्रम नहीं होता है।[2] अपितु उनका पुनः ग्रहण कर लिया जाता है।

(2) संहितायत रिफितादि पदों के क्रमसंहिता में अविकार के लिए पुनरूक्त पद का सङ्क्रम नहीं किया जाता, अपितु उसका पुनग्रहण होता है।[3]

---

1. असमाने, वा0प्रा0 4/172

2. अवसानार्थ पुनर्ग्रहणम्, वा0प्रा0 4/177.

3. अविकारार्थ च, वा0प्रा0 4/178

सप्तम अध्याय

क्रमपाठ प्रकरण

सप्तम अध्याय :- क्रमपाठ प्रकरण

क्रमपाठ का उद्भव :-

प्राचीन ऋषियों ने वेद की संहिताओं की रक्षा के लिए अनेक उपाय किये हैं। जिससे आज भी संहिताएँ अपनी मूलरूप में सरलता से उपलब्ध हो रही हैं। इतनी लम्बी अवधि के बाद भी संहिता के एक वर्ण का न तो हास हुआ न एक अतिरिक्त वर्ण का समावेश हुआ। इन उपायों के अभाव में संहिताओं के सहश्र वर्ष बाद रचित रामायण और महाभारत में समय–समय पर परिवर्तन तथा परिवर्धन होने के कारण उनके मूलरूप को जानना कठिन हो गया है। ऋषियों द्वारा किये गये जिन उपायों से संहिताएँ आज भी अपनी मूलरूप में सुरक्षित हैं उनमें से मुख्य हैं– अनेक प्रकार के पाठों की सृष्टि।

जैसा की पदपाठ के प्रयोजन के प्रसंग में बतलाया गया है कि पदों के मूलस्वरूप, स्वर तथा अर्थ इत्यादि के ज्ञान के लिए पदपाठ की रचना की गयी। किन्तु धीरे–धीरे मन्त्रों के मूलरूप में परिवर्तन होने लगा। इसलिए ऋषियों ने वेदों के मूलरूप तथा संहितारूप दोनों की रक्षा तथा ज्ञान के लिए क्रमपाठ की रचना की। बाद में क्रमपाठ के आधार पर जटापाठ, शिखापाठ, मालापाठ, रेखापाठ, ध्वजपाठ, दण्डपाठ, रथपाठ और धनपाठ...इन विकृत पाठों की रचना हुई। इन विकृत पाठों के प्रचलन से संहिता मन्त्रों का एक–एक वर्ण सुरक्षित हो गया।

क्रमपाठ का प्रयोजन :-

क्रमपाठ का मुख्यप्रयोजन एक ओर तो दो–दो पदों की संहिता को और दूसरी ओर सभी पदों के मूलरूप को एक–एक करके दिखलाना है इस प्रकार क्रमपाठ के दो संहिता पाठ और पदपाठ दोनों का ज्ञान होता है। वा0 प्रा0 में क्रमपाठ का प्रयोजन बतलाते हुए यही बात कही गयी है कि 'स्मृति' क्रमपाठ का

प्रयोजन है।[1] इसको स्पष्ट करते हुए भाष्यकार उवट का कथन है कि क्रमपाठ, संहिता सम्बन्धी पाठ तथा पद सम्बन्धी पाठ का स्थायी स्मरण कराता है।[2] भाष्यकार उवट तथा अनन्त ने वा0 प्रा0 विहित क्रमपाठ के प्रयोजन वाले इस सूत्र के भाष्य में अन्य प्रयोजन भी बतलाये हैं जो निम्नलिखित हैं–

(1) क्रमपाठ के द्वारा दो–दो पदों की वर्णसंहिता और उदात्तादि स्वरों की संहिता का ज्ञान होताहै।

(2) संहिता–मंत्रों के अवसानों का ज्ञान होता है।

(3) क्रमपाठ शिष्टों (विद्वज्जनों) के मध्य में सम्मानदायक होता है।

(4) क्रमपाठ ऋषि समाहत हैं। अतः इसके अध्ययन से विशेष पुण्य मिलता है।

(5) व्याकरण में क्रमपाठाध्यायी के लिए विशेष सूत्र और क्रमपाठ प्रत्यय द्वारा क्रमक की संज्ञा विहित की गयी है, जिससे सिद्ध होता है कि क्रमपाठ के अध्येता का समाज में विशेष स्थान होता है।

(6) इस प्रत्यय से यह भी सिद्ध होता है कि क्रमपाठ एक प्रकार का सिद्ध तत्व है।[3]

(7) पद और संहिता इन दोनों के स्वरूप को बतलाते हुए क्रमपाठ करने वाला अन्नादि और स्वर्ग दोनों की प्राप्ति करता है।[4] ऋ0 प्रा0 में आचार्य शौनक ने पॉच सूत्रों में उन तथ्यों को प्रस्तुत करते हुए क्रमपाठ की प्रयोजन को बतलाया है।[5]

(1) सिद्ध पदपाठ और संहिता पाठ के आश्रय बनाकर यह क्रमपाठ प्रवृत्त होता

---

1. *क्रमः स्मृति प्रयोजनः। वा0प्रा0 4/180*
2. *वा0प्रा0, 4/180, उवटभाष्य*
3. *वा0प्रा0 4/180, उवटभाष्य*
4. *वा0प्रा0 4/180, अनन्तभाष्य*
5. *ऋ0प्रा0 11/67–71*

है, यह क्रमपाठ भी सिद्ध है।[1]

(2) क्रमपाठ की निन्दा किये जाने पर भी सांख्यशास्त्र एवं योगशास्त्र की तरह यह विद्यमान होकर अपनी उद्देश्यों की प्राप्ति हेंतु सतत प्रयत्नशील है।[2]

(3) क्रमपाठ में संहिता के पदादि और पदान्त के स्वरूप ज्ञान के लिए अनेक विशिष्ट विधियों का विधान किया गया है।[3]

(4) क्रमपाठ 'अवसान' आदि विशेष बातों के विषय में प्रयत्न करता है।[4]

(5) क्रमपाठ में विशेष बाते दिखलायी पड़ती हैं। जैसे 'अवगृह्य पदों का परिग्रह।[5]

(6) यह क्रमपाठ श्रुति का सम्मान करने वाला है।[6]

(7) क्रमपाठ के बिना दो पदों 'संहिता' और दो पदों के 'स्वर' सिद्ध नहीं हैं।[7]

(8) ऋचाओं तथा यजुषों की पुष्टि क्रमपाठ की सहायता से की जाती है।[8]

क्रमपाठ के नियम :-

वा0 प्रा0 चतुर्थ अध्याय के सोलह सूत्रों (4/180–195) और सम्पूर्ण सप्तम अध्याय में क्रमपाठ विषयक विधान किये गये हैं। ऋ0 प्रा. में भी क्रमपाठ का विधान किया गया है। ऋ0 प्रा0 के दशम एवं एकादश पटल में क्रमपाठ के विषय में विस्तृत विवेचन किया गया है। अतः यहाँ दोनों प्रातिशाख्यों के अनुसार क्रमपाठ का अध्ययन प्रस्तुत किया जा रहा है।

---

1. *ऋ0प्रा0 11/67*
2. *ऋ0प्रा0 11/68*
3. *ऋ0प्रा0 11/69*
4. *ऋ0प्रा0 11/69*
5. *ऋ0प्रा0 11/69*
6. *ऋ0प्रा0 11/69*
7. *ऋ0प्रा0 11/70*
8. *ऋ0प्रा0 11/71*

द्विपद-क्रमवर्ग विधान :-

दोनों प्रातिशाख्यों में द्विपद क्रमवर्ग का विधान प्राप्त है। क्रमपाठ में अपृक्त को छोड़कर दो–दो पक्षों का मेल किया जाता है।[1] और दो–दो पदों के अन्तिम पद की उसके परवर्ती पद के साथ मेल अवसान तक किया जाता है। तात्पर्य यह है कि अपृक्त पद को छोडकर क्रमपाठ में दो–दो पदों की संधि की जाती है। अर्द्धर्च के प्रारम्भ वाले से पदों को प्रथम क्रमवर्ग के अन्तर्गत पढ़ा जाता है। इसके बाद प्रथम क्रमवर्ग के अन्तिम पद की अगले पद से सन्धि करके दूसरा क्रमवर्ग बनाया जाता है। दूसरे क्रमवर्ग के समान अन्य क्रमवर्ग भी मन्त्र के अवसान तक बनाये जाते हैं। यथा– उपलाग्ने हविष्मतीर्घृतम्चीर्यन्तु हर्यत (वा0 प्रा0 3/4) उपला। त्वाग्ने। अग्नेहविष्मतीः। हविष्मतीर्घवाचीः। घृताचीर्यन्तु। यन्तु। हर्यत। हर्यतेतिहर्यत (क्र0 प्रा0) प्रस्तुत उदाहरण के क्रमपाठ बनाने में दो–दो पदों की संधि की गयी है। इन्हीं दो–दो पदों के क्रमसमूह को द्विपद क्रमवर्ग कहा जाता है।

त्रिपद क्रमवर्ग विधान :-

प्रायः क्रमपाठ में दो–दो पदों का ही क्रमवर्ग होता है। किन्तु कुछ विशेष स्थलों पर तीन पदों की संधि करके भी क्रमवर्ग बनाया जाता है। इन तीन पदो के समूह को त्रिपद क्रमवर्ग कहा जाता है। त्रिपद क्रमवर्ग अधोलिखित स्थलों पर होता है–

(1) संहिता में स्थित अपृक्तपद को दो पदों के मध्य में रखकर उसके पूर्ववर्ती तथा परवर्ती पदों के साथ तीन पदों का क्रमवर्ग बनाया जाता है।[2] यथा– हंसानालभते वायवे (वा0 प्रा0 24/22) हंसानालभते। आलभते। लभते। वायवे। (क्र0 पा0) यहाँ अपृक्त आ को मध्य में रंखकर उसके पूर्ववर्ती पद

---

1. *वा0प्रा0 4/181, ऋ0प्रा0 10/1, 10/18, 10/5, 10/6 इत्यादि*
2. *अपृक्त मध्यानि त्रीणि स त्रिक्रमः। वा0प्रा0 4/182*

हंसान् तथा परवर्ती पद लभते के साथ तीन पदों का क्रमवर्ग बनाया गया है। यहाँ उल्लेखनीय है कि वाजसनेयि संहिता में आ और उ दो ही अपृक्त पद मिलते हैं, किन्तु दोनों अप्रक्त पदों की निपद क्रमवर्ग विधान में कुछ वैषम्य है। वा0 प्रा0 4/183 के अनुसार आकार को त्रिपद क्रमवर्ग में सम्मिलित करके पुनः उसका परवर्ती पद के साथ द्विपद क्रमवर्ग भी बनाया जाता है।[1] जैसा भही उपर्युक्त उदाहरण से स्पष्ट है प्रतिभात है। किन्तु उ इस अपृक्त पद को त्रिपद क्रमवर्ग में सम्मिलित करके पुनः उसका अगले पद के साल द्विपद क्रमवर्ग नहीं बनाया जाता है।

(2). मो ष णः और अभी षु णः इन पदों का भी त्रिपद क्रमवर्ग होता है।[2] यथा– मोषण इन्द्रः (वा0 3/45) मो षू णः। मो इति मो। सुनः न इन्द्रः (क्र0 पा0) इत्यादि।

(3) किसी अन्य पद के द्वारा पृथक किया गया जो पद है वह भी और पृथक करने वाला पद भी ये दोनों क्रमवर्ग के अन्त में नहीं रखा जाता है। यथा– ईयतेनरा च शंसं दैव्यम् (9/46/42) ईयते। नराशंसम्। च। दैव्यम् (प0 पा0) ईयते नरा च शंसं दैव्यम् (क्र0 पा0) सूत्रानुसार 'नरासंसम्' पद और 'च' पद को क्रमवर्ग के अन्त में नहीं रखा जाता है। अतः यहाँ चार पदों का एक क्रमवर्ग बना है।

चतुःपद क्रमवर्ग विधान :-

वा0 प्रा0 के अनुसार कहीं–कहीं चार पदों का क्रमवर्ग बनाया जाता है, जिसे चतुःपद क्रमवर्ग कहते हैं। यह चतुःपद क्रमवर्ग इन स्थलों पर होता है।

(1) सुपद के पूर्व में अपृक्त पद तथा बाद में नकार होने पर चार पदों का

---

1. *वा0प्रा0 4/183*
2. *वा0प्रा0 4/184, ऋ0प्रा0 11/3, 11/4*

क्रमवर्ग होता है।[1] यथा– ऊर्ध्वं ऊ षु ण अतः (क्र0 पा0)

(2) कतिपय आचार्यो के अनुसार सु के पर्वू में अपृक्त पद तथा बाद में मकार होने पर भी चार पदो का क्रमवर्ग बनता है।[2] यथा– महीमू पु मातरं सुब्रतानाम् (वा0 प्रा0 21/4) महीम् पु मातरम्। ऊँ इत्युँ। सुमातरम्। मातरं सुब्रताना (क्र0 पा0)

(3) किसी अन्य पदों के द्वारा प्रथक किया गया जो पद है वह भी और पृथक करने वाला भी ये दोनों क्रमवर्ग के अन्त में नहीं रखा जाता है।[3] यथा– ईयते नरा च शंसं दैव्यम् (क्र0पा0)

सूत्रानुसार 'नराशंसम्' पद और 'च' पद को क्रमवर्ग के अन्त में नहीं रखा जाता है। अतः यहाँ चार पदों का एक क्रमवर्ग बना है।

पाँच पदों का क्रमवर्ग :-

'स्वसारगमस्कृत' (10/127/3) के दोनों पदों (स्वसारम् और अकृत) को क्रमवर्ग के अन्त में नहीं रखा जाता है।[4] यथा– निरू स्वसारमस्कृतोषसम् निः। ऊँ इति। स्वासरम् अकृत। उषसम् (प0 पा0) निरू स्वसारयस्कृतोषसम् (क्र0 पा0) नियमानुसार स्वसारम् अकृत एवं एकाक्षर पद उ (ऊँ) भी क्रमवर्ग के अन्त में स्थित नहीं हो सकता है। अतः यहाँ पाँच पदों का एक क्रमवर्ग बना है।

इस प्रकार ऋ0 प्र0 एवं वा0 प्र0 में दो एवं दो में अधिक पदों के क्रम वर्ग का विधान सम्बन्धी नियम प्रस्तुत किये गये हैं जिसका उद्देश्य आर्षिसंहिता को सुरक्षित एवं व्यवस्थित रखना है। सूनकार ने विधान किया है कि आर्षि संहिता का लोप न हो इस उद्देश्य से कभी कभी बहुत पदो का भी एक क्रमवर्ग बनाया जाता है। कतिपय पदों का अतिक्रमण करके परवर्ती पदों में क्रमवर्ग का अवसान करते हैं।[5] प्रस्तुत विवेचन से स्पष्ट लक्षित होता है कि वा0 प्रा0 की अपेक्षा ऋ0

1. वा0प्रा0 4/185 2. वा0प्रा0 4/186 3. ऋ0प्रा0 10/3,11/13
4. ऋ0प्रा0 10/3, 11/9 5. अथो बहूनामविलोपकारणः परैरवस्यन्त्यतिगम्य कानिचित्। ऋ0प्रा0 11/2

प्रा० में क्रमपाठ के विषय में विस्तृत विवेचन किया गया है।

(3) 'ओ' को छोड़कर एक वर्ण अक्षर वाला पद क्रमवर्ग के अन्त में नहीं आता है।[1] प्रस्तुत नियम के अनुसार 'ओ' क्रम वर्ग के अन्त में स्थित हो सकता है। किन्तु 'आ' और 'ऊँ' क्रमवर्ग के अन्त में स्थित नहीं हो सकते। यथा– आ मन्द्रमा वरेण्यम् (9/65/29) आ मन्द्रम्। मन्द्रमा वरेण्यम् (क्र० पा०) यहाँ 'आ' क्रमवर्ग के अन्त में न हो के कारण दो–दो पदों के स्थान पर तीन–तीन पदों का क्रमवर्ग बना है।

(4) मूर्धन्य भाव को प्राप्त 'सु' और 'स्म' ये दो पद क्रमवर्ग के अन्त में नहीं आते यदि इनके बाद में 'न' पद हो[2] यथा– मो षु णः (1/38/6) मो इति। सु। नः (प० पा०) मो षु णः (क्र० प्रा०) प्रस्तुत नियम के अनुसार 'सु' क्रमवर्ग के अन्त में स्थित न हो सकने के कारण यहाँ तीन तीन पदों के क्रमवर्ग बने हैं।

(5) 'ईम' क्रमवर्ग के अन्त में नहीं रखा जाता है, जब इसके अन्तिम वर्ण का लोप हुआ है।[3] यथा–यमी गर्भम् (9!102/06) यम् इषिति गर्भम् (प० पा०) यमी गर्भम् (क्र० पा०) प्रस्तुत उदाहरण में 'ईम्' के यकार का लोप 4/83 से हो गया है। अन्तः 'ईम्' पद क्रमवर्ण के अन्त में नहीं हो सकता है। फलतः तीन पदों का क्रमवर्ग बना है।

(6) जिप पदों का प्रथम 'हस्व' अक्षर दीर्घ हो गया हो उन पदों क्रमपद के अन्त में नहीं रखा जाता है।[4] यथा– योनिमारैगप (1/124/08) योनिनम अरैक्। अप (प० पा०) योनिसारैगप (प० पा०) नियम के अनुसार प्रथम अक्षर

---

1. ऋ०प्रा० 10/3, 11/3

2. ऋ०प्रा० 10/3, 11/4

3. ऋ०प्रा० 10/3, 11/10

4. ऋ०प्रा० 10/3, 11/10

दीर्घ (2/75) हो जाने के कारण यहाँ तीन–तीन पदों का क्रम बना है।

(7) सकार लुप्त 'स्कम्भनेन' पद क्रमवर्ग के अन्त में नहीं रखा जाता।[1] यथा– चिरकम्भनेन स्कभीयान् (10/111/5) चित्। स्कम्भनेन। स्कभीयान् (प्र0 पा0) चित्कम्भनेन स्कभीयान् (क्र0 पा0) यहाँ सकार का लोप 4/21 हो जाने से 'स्कम्भनेन' पद को क्रमवर्ग के अन्त में नहीं रखा जा सकता। अतः तीन पदों का क्रमवर्ग बना है।

(8) 'इतोषिश्च' इस द्वैपद के प्रथम पद को क्रम वर्ग के अन्त में नहीं रखा जाता है।[2] यथा– परीतोषिच्चत (9/107/1) परि। इतः। श्चित (प0 पा0) परीतो विश्चत (क्र0 पा0) यहाँ दूत पद क्रमवर्ग के अन्त में नहीं आता अतः तीन पदों का एक क्रमवर्ग है।

(9) 'आवर्तमः'– इस द्वैपद का प्रथम पद क्रमवर्ग के अन्त में नहीं आता।[3] यथा– उषा आवर्तमः (1/92/4) उषा आवर्तमः (क्र0 प्रा0) यहाँ तीन का क्रम वर्ण हैं

(10) 'वीरास एतन' में बाद वाला पद क्रमवर्ग के अन्त में नहीं रखा जाता है।[4] यथा– वीरास एतन मयीस (5/6/4) परा वीरास। वीरास एतन मयीसः (क्र0 पा0)

क्रमपाठ में स्थितोपस्थित :-

वा0 प्र0 में पदपाठ के सन्दर्भ में स्थितोपस्थित विषय विधान किये गये हैं जिनका विवेचन पदपाठ प्रकरण में किया जा चुका है। इनका समावेश क्रमपाठ

---

1. *ऋ0प्रा0 10/3, 11/10*
2. *ऋ0प्रा0 10/3, 11/5*
3. *ऋ0प्रा0 10/3, 11/7*
4. *ऋ0प्रा0 10/3, 11/10*

में किस प्रकार करना चाहिए। इसके सम्बन्ध में वा0 प्रा0 में कुछ विधान किये गये हैं, जो इस प्रकार है–

(1) पूर्ववर्ती अवग्रह्य (सावग्रह) पद का उत्तरवर्ती पद के सन्धान के बाद स्थितोपस्थित रूप में पाठ करना चाहिए।[1] तात्पर्य यह है कि क्रमपाठ में पूर्ववर्ती सावग्रह पद का उत्तरवर्ती पद के साथ क्रमवर्ग बनाने के बाद उसका स्थितोपस्थित रूप पाइ किया जायेगा। यथा– श्रेष्ठतमाय कर्मण आख्याध्वम (वा0 प्रा0 1/1) श्रेष्ठतमाम कर्मणे। श्रेष्ठतमायेतिन श्रेष्ठ–तमाय कर्मण आव्यामध्वम् (क्र0 पा0) यहाँ क्रमपाठ में श्रेष्ठतमाम इस सावग्रह पद का उत्तरवर्ती पद कर्मणे के साथ क्रमवर्ग बनाने के बाद इसका स्थितोपस्थित पाठ किया गया है।

(2) आचार्य शाक्टायन के अनुसार सु पद का त्रिपद क्रमवर्ग अथवा चतुःपद क्रमवर्ग में पाठ करने के बाद इसका स्थितोपस्थित रूप में भी होता है[2] यथा– मोषूण इन्द्रः (वा0 3/45) मोषूणः मो इति मो। स्विति सु। सुनः न इन्द्रः (क्र0 पा0)।

(3) एक पद के मध्य में हुए दीर्घभाव वाले पद का उत्तरवर्ती पद के साथ क्रमवर्ग बनाने के बाद सिथतिपस्थित पाठ करनां चाहिए।[3] तात्पर्य यह है कि वा0 प्रा0 के तृतीय अध्याय में जिन पदों के मध्यगत दीर्घभाव का विध ान किया गया है, उन पदों का क्र संहिता में उत्तरवर्ती पद के साथ क्रमवर्ग बनाकर पुनः उसका स्थितोपस्थित पाठ किया जाताहै। यथा– सादन्यं विद्थयं समेयम् (वा0 34/21) सादन्यं विदथयम्। सदन्यमिति सदन्यम्। विदथयं समेयम् (क्र0 पा0) यहाँ सादन्यं पद के मध्य में दीर्घभाव है।

---

1. *वा0प्रा0 4/188*
2. *वा0प्रा0 4/189*
3. *वा0प्रा0 4/190*

सादन्यम् पद में अन्तः पद दीर्घभाव होने से प्रस्तुत विधान के अनुसार क्रमपाठ में उत्तरवर्ती पद के साथ 'सादन्यं विदथ्यम्' इस क्रमवर्ग का पाठ होने के बाद उसका स्थितोपस्थित के रूप में 'सदन्यमिति सदन्यम' यह पाठ किया गया है।

(4) विनाम के स्थलों में पूर्वोत्तर पदों के मेल द्वारा क्रमवर्ग का पाठ करके पुनः स्थितोपस्थित का पाठ किया जाना चाहिए।[1] विनाम शब्द को स्पष्ट करते हुए भाष्यकार उवट ने कहा है कि विनाम शब्द के द्वारा दन्त्य वर्णो के मूर्धत्यभाव का कथन होता है। विनाम शब्द से द्वारा दन्त्य वर्णो के मूर्धव्भाव का कथन होता है। जहॉ निमित्त और विभित्तिन एक ही पद के अन्तर्गत हो।[2] इस प्रकार प्रस्तुत विधान में यह कहा गया है कि एक पदगत छान्दस मूर्धन्यभाव के स्थलों में उस पद के परवर्ती पद के साथ सन्धान करके पुनः उसका स्थितोपस्थित पाठ करना चाहिए। यथा– सिसासन्त इति सिसान्तः बनायहे इति वनामहे (क्र0 पा0) यहॉ सिषासन्तः+ विनाम शब्द है। अतः इसका स्थितोपस्थित पाठ किया गया है।

(5) प्रगृह्य संज्ञक पदों का उसके परवर्ती पद के साथ मेल द्वारा क्रमवर्ग का पाठ करके पुनः स्थितोपस्थित पाठ करना चाहिए।[3] यथा– इन्द्राग्नी आगतं सुतम् (वा0 सं0 33/83) इन्द्राष्नी आगतम्। इन्द्राग्नी इतीन्द्राग्नी आगत सुतम् (क्र0 पा0) यहॉ इन्द्राग्नी प्रगृह्य संज्ञक पद है। अतः इस विधान के इस पद का उत्तरवर्ती पद के मेल द्वारा प्राप्त क्रमवर्ग का पाठ कर पुनः इसका स्थितोपस्थित पाठ किया गया है।

---

1. *विनामे, वा0प्रा0 4/191*
2. *वा0प्रा0 4/191, उवटभाष्य*
3. *प्रगृह्ये , वा0प्रा0 4/192*

(6) क्रम–संहिता में उत्तरपद सन्धान (मेल) अर्थात् उत्तरवर्ती पद के रूप में क्रमवर्ग बनाने के अनन्तर संहिता में अनिरूक्त रिफित विसर्जन पदों का स्थितोपस्थित पाठ करना चाहिए।[1] यथा– अन्तस्ते घावा पृथ्वी (वा0 7/5) अन्तस्ते। अन्तरित्यन्त ते द्यावापृथिवी (क्र0 पा0) यहाँ अन्तः पद संहिता में अनिरूक्त विसर्जनीय है। अतः प्रस्तुत विधान के अनुसार इसका स्थितोपस्थित पाठ किया गया है।

(7) अवसान में स्थित पद का पूर्ववर्ती पद के साथ क्रमवर्ग बनाने के बाद पुनः उसका स्थितोपस्थित पाठ किया जाता है।[2] यथा अग्नये जातवेद से (वा0 3/2) अग्नये जातवेद से जातवेदस इति जात वेद से (क्र0पा0) ऋ0 प्रा0 में उल्लेख किया गया है कि पदों के मूल रूप को दिखाने की तीन रीतियाँ हैं यथा–

(1) स्थित :– जिस पद के साथ 'इति' नहीं जोड़ा जाता है।[3] यथा– ताम्
(2) उपस्थित :– जिस पद के साथ 'इति' जोडा जाता है।[4] यथा– बाहू इति।
(3) स्थितोपस्थित :– जहाँ मध्य में 'इति' रखकर पद का दो बार उच्चारण किया जाता है तब वह पद स्थितोपस्थित कहलाता है।[5] यथा– तामिति ताम्। इससे स्पष्ट होता है कि स्थितोपस्थित का अर्थ है 'स्थित' और 'उपस्थित' का योग। इसमें 'स्थित' और 'उपसिथत' का साथ–साथ उच्चारण होता है। उपस्थित को पूर्व में करके और 'स्थित' को बाद में करके तब इन दोनों का महोच्चारण होता है। इसी स्थितोपस्थित का ही अन्य नाम परिग्रह है। जिसको (जिस परिग्रह को)

---

1. *अनिरूक्त विसर्जनीय के लिए पदपाठ प्रकरण में स्थितोपस्थित विषयक विधान संख्या 2 देखें।*
2. *अवसाने च, वा0प्रा0 4/194*
3. *ऋ0प्रा0 11/28, 10/13*
4. *ऋ0प्रा0 11/12, 11/29*
5. *ऋ0प्रा0 10/14, 11/30*

पदों के मूल–रूप के प्रदर्शन की सर्वोत्तम रीति माना गया है।

'स्थित' उपस्थित और स्थितोपस्थित इन तीनोां में से सूत्रकारने 'स्थितोपस्थित' को ही श्रेष्ठ माना है।[1] इसलिए शाकल के अनुयायी क्रमपाठ में 'स्थितोपस्थित' रूप में ही पद को दिखलाते हैं। यथा– आरैक्यन्थांम (1/113/16) अरैक (प0 पा0) आरैक्यन्थांम् अरैत्रिति (क्र0 पा0)

प्रस्तुत उदाहरण में प्रयुक्त 'अरैंक' का रै पदपाठ में स्वरित हैं, किन्तु 'अरैगिति' में अनुदात्त हो गया है। अतः यहाँ उपस्थिति में पद मूल–रूप में दिखलाई नहीं देता है। किन्तु 'स्थितोपस्थित' में पद मूल–रूप में दिखलाई पड़ते हैं। इसलिए शाकल के अनुयायी (स्थितोपस्थित) परिग्रह के द्वारा ही पदों के मूल रूप को दिखलाते हैं।

क्रमपाठ में परिग्रह :-

वा0 प्रा0 में सूत्रकार तथा भाष्यकारों ने न तो परिग्रह का लक्षण ही किया है न प्रयोग ही। किन्तु सूत्रों तथा भाष्यों पर विचार करने से यह प्रतीत होता है कि स्थितोपस्थित में इति से पहले वाले पद के अन्तिम वर्ण तथा पदादि इति की जो सन्धि होती है, उसे लक्षणतया परिग्रह माना गया हैं। परिग्रह विषयक विधान क्रमपाठ के सन्दर्भ में संहिता के अवसान में स्थित पदों के स्थितोपस्थित पाठ के लिए किया गया है।

परिग्रह के नियम :-

स्थितोपस्थित में प्रथम पठित पदान्तीय वर्ण तथा पदादि इति के इकार के सन्धान से किस प्रकार के विकार के साथ परिग्रह होना चाहिए इसका विधान वा0 प्रा0 के सप्तम अध्याय में किया गया है। यह परिग्रह सम्बन्धी नियम पदपाठ तथा क्रमपाठ दोनों के स्थितोपस्थित में लागू होते हैं, जो इस प्रकार हैं–

---

1. ऋ0प्रा0 11/6

स्वरान्त पदों का परिग्रह :-

(१) अवर्णान्त पदो का परिग्रह :-

लुप्त अकार को छोड़कर अन्य कण्ठ्य स्वर वर्ण (अ, आ) में अनत होने वाले पदों का एकार से परिग्रह करना चाहिए।[1] अर्थात् पदान्त अ तथा आ पदान्त वाले परिग्रह में पदान्त अ, आ, तथा पदादि इति की संधि होने पर एकीभाव एकार हो जाता है। यथा– पंच (वा0 1/9) पंचेति पश्च (क्र0 पा0)

(२) इवर्णान्त पदों का परिग्रह :-

ईकार में परिग्रह करना चाहिए[2] यथा– पाहि (क0 7/10) पाहीति पाहि (क्र0पा0)

(३) उवर्णान्त पदो का परिग्रह :-

उवर्ण (उ, ऊ) का वकार से परिग्रह करना चाहिए।[3] यथा– सन्तु (वा0 33/12) सन्त्विति सन्तु (क्र0 पा0)

(४) एकारान्त, ऐकारान्त, प्लुतान्त तथा प्रगृह्य पदों का परिग्रह :-

ऐकारान्त, ऐकारान्त, प्लुतान्त तथा प्रगृह्य पदों का विवृत्ति से परिग्रह करना चाहिए।[4] यथा– अग्नये (वा0 3/11) अग्नय इत्यग्नये (क्र0 प्रा0) मादयध्यै (वा0 3/13) मादयध्यै इति मादयध्यै (क्र0 पा0)। विवेशाउ (वा0 33/49) विवेशा ऊ इति विवेशाउ (क्र0 पा0) घापयेते (वा0 33/5) घापयत इतिघापयेते (क्र0 पा0) यहाँ वा0 प्रा0 4/46 के सन्धि के नियमानुसार प्रथम तथा द्वितीय उदाहरणों में क्रमशः अय् तथा आय् हुआ है। जिनके यकार का वा0 प्रा0 4/125 से लोप हो गया है। तृतीय उदाहरण में वा0 प्रा0 4/90 तथा चतुर्थ उदाहरण में

---

1. *वा0प्रा0 7/2*
2. *इवर्णमीकारेण, वा0प्रा0 7/3*
3. *उवर्ण वकारेण, वा0प्रा0 7/3*
4. *वा0प्रा0 7/7*

वा0 प्रा0 4/86 से सन्धि निषेध हुआ है।

(५) औकारान्त पदों का परिग्रह :-

औकारान्त पद का वकार के रूप में परिग्रह करना चाहिए।[1] यथा– असौ (वा0 9/30) असावित्यसौ (क्र0 पा0) कतिपय आचार्यो के अनुसार यथा– असा इत्यसौ (क्र0 पा0) यहॉ पर सन्धि के अनुसार वा0 प्रा0 4/46 से आव् प्राप्त होता है। कतिपय आचार्यो के अनुसार वकार का लोक हो जाता है जिन आचार्यो के अनुसार वकार का लोप नहीं होता उनके मत से वकार के रूप में तथा जिनके अनुसार लोप हो जाता है उनके मत से विवृत्ति के रूप में परिग्रह होता है।

विसर्जनीयान्त पदों का परिग्रह :-

(१) अवर्णोपधीय अरिफित विसर्जनीयान्त पदों का परिग्रह :-

हस्व कष्ठ्य स्वर (अ) उपधा वाले विसर्जनीयान्त पद का भी विवृन्ति से परिग्रह करना चाहिए।[2] यथा इड्यः (वा0 3/15) इड्य इतीड्य (क्र0 पा0) दीर्घ कण्ठ्य स्वर उपधा वाले विसर्जनीयान्त पद का भी विवृत्ति से परिग्रह करना चाहिए।[3] यथा अरोचयथाः (वा0 3/14) अरोचयथा इति अरोचयथाः (क्र0 पा0)

(२) माव्युपधीय विसर्जनीयान्त तथा रिफित विसर्जनीयान्त पद का परिग्रह:-

अकण्ठ्य स्वर (अ, आ से अन्य) उपधा वाले विसर्जनीयान्त पदों का रेफ से परिग्रह करना चाहिए।[4] यथा– नमोभिः (वा0 13/43) नयोभिरिति नमोभिः (क्र0 पा0) कः (वा0 33/59) करिति कः (क्र0 पा0)

---

1. *वा0प्रा0 7/8*
2. *वा0प्रा0 7/6*
3. *वा0प्रा0 7/7*
4. *वा0प्रा0 7/9*

विसर्जनीय से अन्य व्यंजनान्त पदों का परिग्रह :-

(१) प्रथम स्पर्शान्त पदों का परिग्रह :-

प्रथम स्पर्शान्त अर्थात् क, च, ट, त एवं प अन्त में है जिसके ऐसे पदों का स्वगीर्यय तृतीय स्पर्श (क्रमशः ग, ज, उ, द, ब्) से परिग्रह करना चाहिए।[1] यथा– अस्मत् (वा0 21/2) अस्मदित्यस्मत् (क्र0 पा0) इत्यादि।

(2) पंचम स्पर्शान्त पदों का परिग्रह :– पंचम स्पर्शान्त अर्थात् म्, उ, ण, न, म् सें अन्त होने वाले पदों का उन्हीं वर्णो से परिग्रह करना चाहिए।[2] यथा– नृपायम् (वा0 20/81) नृपायमिति नृपायम् (क्र0 पा0) इत्यादि।

क्रमपाठ में सङ्क्रम :-

जैसा की पदपाठ प्रकरण में कहा गया है कि पदपाठ में गलत्पदों को छोड़कर अलग पदों का ही पदपाठ किया जाता है। पद पाठ में इन गलत्पदों को छोड़देना ही सङ्क्रम कहा जाता है। पदपाठ की भॉति क्रमपाठ ।करते समय इन गलतत्पदों को छोड़कर इनके पूर्ववर्ती तथा परवर्ती अगलत्पदों का सन्धान करके क्रमवर्ग बनाया जाता है। भाष्यकार उवट के अनुसार क्रमपाठ में गलत्पदों को छोड़कर क्रमवर्ग बनाने के लिए इनके पूर्ववत्री तथा परवर्ती अगलत्पदों की जो सन्धि की जाती है वही सङ्क्रम है।[3] पदपाठ पर सङ्क्रम के स्थलों का विस्तृत विवेचन पदपाठ प्रकरण में किया गया है। अतः उन स्थलों को यहॉ नहीं प्रस्तुत किया जा रहा है।

ऋ0 प्रा0 के अनुसार परिग्रह के नियम :-

ऋ0 प्रा0 एवं वा0 प्रा0 दोनों प्रातिशाख्यों में परिग्रह का विवेचन किया गया है किन्तु दोनों के नियमों में अनेक स्थलों में भिन्नता दृष्टि गोचर होता है। ऋ0

---

1. *प्रथमान्तं तृतीयेन, वा0प्रा0 7/10*
2. *उत्तमान्तमुत्तमेन, वा0प्रा0 7/11*
3. *गलत्पदामतिक्रम्यगलतासहसन्धानः सङ्क्रमः, वा0प्रा0 4/166 उ0*

प्रा0 में परिग्रह के विषय में दशम एवं एकादश पटल में अनेक स्थल लक्षणीय हैं जिस परिग्रह सम्बन्धी नियम का ज्ञान होता है। यथा–

(1) पदपाठ में जिन पदों को अवग्रह के द्वारा दो खण्डों में विभक्त किया जाता है, क्रमपाठ में उन पदों का 'परिग्रह' किया जाता है।[1] यथा– ऋषिभिरीडयः (1/1/2) ऋषिडभिः। ईडयः (प0 पा0) ऋषिभिरीडयः। ऋषिभिरित्युषिडभिः (क्र0 पा0)। प्रस्तुत उदाहरण में 'ऋषिभिः' पद को पदपाठ में 'अवग्रह' के द्वारा पृथक किया गया है। अतः ऋषिभिः पद से क्रम–वर्ग को पूरा करके इसका 'परिग्रह' किया गया है। ध्यातव्य है कि 'परिग्रह' के द्वितीय वचन में उच्चारित होने वाले रूप को अवग्रह के द्वारा पृथक किया जाता है। प्रथम वचन में 'अवग्रह' का प्रयोग नहीं किया जाता है।[2]

(2) पदपाठ में जिन पदों के साथ इति जोडा जाता है उन पदों का 'परिग्रह' किया जाता है।[3] यथा– इन्द्राग्नी अपात् (6/59/6) इन्द्राग्नी इति। अपात् (प0 पा0) इन्द्राग्नी अपात्। इनद्राग्नी इतीन्द्राग्नी (क्र0 पा0)
यहॉ 'प्रगृह्य' संज्ञक 'इन्द्राग्नी' पद के साथ 'इति' लगाया गया है। अतः 'इन्द्राग्नी' पद का परिग्रह किया गया है।

(3) जहॉ पर संहिता पाठ में धक्षि और धुक्षि पदों के किसी भी रूप के प्रथम वर्ण में विकार हुआ हो वहॉ उसका 'परिग्रह' किया जाता है।[4] यथा– अनु दक्षि दावने (2/1/10) अनु धक्षि। दावने (प0 पा0) अनु दक्षि दक्षि दावने धक्षीति धक्षि (क्र0 पा0)

---

1. ऋ0प्रा0 10/7
2. ऋ0प्रा0 10/16, 11/31
3. ऋ0 प्रा0 10/7
4. ऋ0प्रा0 10/7

यहाँ 4/98 से धक्षि के प्रथम वर्ग 'धकार' का संहिता पाठ में दकार हो गया है। अतः 'धक्षि' का 'परिग्रह' किया गया है।

(4) जिन पदों के प्रथम 'स्वर' वर्ण संहिता पाठ में दीर्घ हो जाते हैं उन पदों का भी परिग्रह किया जाता है।[1] यथा– आरैक्पन्थाम् (1/113/16) अरैक। पन्थाम् (प० पा०) आरैक्पन्थाम्। अरैगित्यरैक् (क्र० पा०)

2/75 से अरैक संहिता–पाठ में आरैक हो गया है। अतः अरैक का 'परिग्रह' किया गया है।

(5) बहुत पदों वाले क्रमवर्ग के मध्य में स्थित पदों का भी 'परिग्रह' किया जाता है।[2] यथा– ईयते नरा च शंस दैव्यम्। यहाँ चार पदों का क्रमवर्ग बना है। मध्यवर्ती दो पदों का प्रस्तुत सूत्र के अनुसार 'परिग्रह' किया गया है।

परिग्रह में सन्धि विशेषों का प्रकृतिभाव :-

'परिग्रह' में संधि विकारों का निवारण करके उन पदों के मूल रूप को दिखलाया जाता है। यह कार्य निम्नलिखित स्थलों पर होता है।

(1) नकार के लोपभाव, ऊष्मभाव और रमाव को 'परिग्रह' में इसके अनुनासिक्यविहीन मूलरूप में ले आवे।[3] अर्थात् जहाँ प्रकृतिभूत नकार का लोप[4] होता है अथवा जहाँ नकार 'ऊष्म वर्ण' के समान कार्य को प्राप्त करता है।[5] अथवा जहाँ नकार का रेफ[6] होता है वहाँ क्रमवर्गों में संहिता के रूप को दिखलाकर तत्पश्चात् 'परिग्रह' में मूल रूप को दिखलाया

---

1. *वा०प्रा० 10/7*
2. *ऋ०प्रा० 10/8*
3. *ऋ०प्रा० 11/36*
4. *ऋ०प्रा० 4/65–68*
5. *ऋ०प्रा० 4/74–78*
6. *ऋ०प्रा० 4/69–71*

जाता है। यथा— अस्मॉआस्मॉ इत् (4/32/4) अस्मान्ऽअस्मान्। इत (प० पा०) अस्मॉअस्मॉ इत। अस्मानस्मानित्यस्मान्ऽअस्मान् (क्र० पा०) यहॉ नकार का लोप है। इस प्रकार 'परिग्रह' में मूल रूप को दिखलाया गया है। इसी अन्य (ऊष्मवर्ण और रेफ) को भी समझना चाहिए।

(2) मूधन्यभाव को इसके मूल रूप में लाया जाता है।[1] यथा— सुषुमा यातम् (1/13/1) सुषुमा मातम्। सुसमेति सुसुम (क्र० पा०)

(3) दीर्घत्व को मूल—रूप में लाया जाता है।[2]

(4) सकारभाव को मूल—रूप में लाया जाता है।[3]

(5) जहॉ 'स्वर—वर्ण' बाद में होने पर पूर्ववर्ती 'प्रगृह्य' स्वर—वर्ण उस परिवर्ती स्वरवर्ण के साथ मिलकर एक हो जाता है उस स्थल को भी मूलरूप में लाया जाता है।[4]

(6) 'दूणाश' दूढय और दूण्भ के सभी रूपों को उनके मूल—रूप में लाया जाता है।[4]

(7) अघोष बाद में होने पर 'ऊष्म—वर्ण' का जो रेफ् हो जाता है उसे भी परिग्रह के समय मूल रूप में लाया जाता है।[6]

(8) स्वधितीव पद को मूल—रूप में लाया जाता है।[7]

(9) 'शौद्वाक्षर' नामक सन्धि से उत्पन्न आगम को हटा दिया जाता है।[8] यथा—

---

1. ऋ०प्रा० 11/37
2. ऋ०प्रा० 11/38
3. ऋ०प्रा० 11/38
4. ऋ०प्रा० 11/39
5. ऋ०प्रा० 11/40
6. ऋ०प्रा० 11/41
7. ऋ०प्रा० 11/42
8. ऋ०प्रा० 11/43

सुश्चन्द्र दस्म (5/6/5) सुश्चन्द्र दस्म। सुचन्द्रेति सुऽचन्द्र (क्र० पा०) यहॉ सुश्चन्द्र में से शकार का आगम हुआ है। सूत्रानुसार 'परिग्रह' करने पर इस आगम को हटाकर पदों के मूल–रूप को दिखलाया गया है।

निश्चित रूप से वैदिक मन्त्रों को मूल–रूप से सुरक्षित रखने के जिए पदपाठ की तरह क्रमपाठ की भी महत्वपूर्ण आवश्यकता सिद्ध है। पदपाठ और क्रमपाठ के बिना वैदिक मन्त्रों के मूल–रूप एवं उनके अर्थ को सुरक्षित रखना सम्भव नहीं है। इसलिए ऋ० प्रा० एवं वा० प्रा० में क्रमपाठ की महत्ता को दर्शाया गया है। यद्यपि दोनों प्रातिशाख्य क्रमपाठ के विषय में अपना–अपना स्वतन्त्र विचार रखते है तथापि ऐसे अनेक स्थल हैं जहॉ पर दोनों के मतों में साम्यता और वैषम्यता भी दृष्टि गोचर होते हैं। विशेष कर ऋ० प्रा० में क्रमपाठ का सहेतुक विवेचन किया गया है। इतना विस्तृत विवेचन (क्रमपाठ के विषय में) प्रथम अन्य किसी भी प्रातिशाख्य में अनुपलब्ध है। दोनो प्रातिशाख्यों ने क्रमपाठ के प्रयोजन को सिद्ध करने के लिए अपनी–अपनी मत को सुचारू ढग से प्रस्तुत किये हैं, जिनका विवेचन किया जा चुका है। क्रमपाठ के विषय के विषय में भी प्राप्त दोनों प्रातिशाख्य समान विचार रखते हैं। किन्तु ऐसे अनेक स्थल भी दृश्यमान है जहॉ नियम सम्बन्धी भिन्नता प्रतीयमान होती है। दोनों प्रातिशाख्यों में द्विपद क्रमवर्ग, निपद क्रमवर्ग एवं चतु:पद क्रमवर्ग का भी विधान किया गया है। दोनों प्रातिशाख्यों में स्थितोपस्थित यानि परिग्रह के विषय में विवेचन प्राप्त हैं। जहॉ वा० प्रा० में स्वरान्त पदों का परिग्रह, सिवर्जनीयान्त पदों का परिग्रह एवं विसर्जनीय से अन्य व्यंजनान्त पदों के परिग्रह को अंकित किया गया है यहीं दूसरी ओर ऋ० प्रा० में परिग्रह के नियमों स्थलों तथा परिग्रह में संधि विशेषों का प्रकृतिभाव के विषय में विस्तृत विवेचन किया गया है। दोनों प्रातिशाख्यों का उद्देश्य क्रमपाठ के माध्यम से आर्षि संहिता को सुरक्षित एवं व्यवस्थित रखना है।

उपसंहार

वेद सर्वज्ञान राशि हैं। किसी भी ग्रन्थ में प्रतिपादित तथ्यों की जानकारी तभी हो सकती है, जब सर्वप्रथम उसका शुद्ध उच्चारण किया जाए। वर्णो के यथा तथ्य रूप से उच्चारित न किये जाने के कारण अर्थान्तर की प्रतीति होती है। यदि स्वजन को कोई श्वजन उच्चारित करेगा तो उसका अर्थ भिन्न हो जायेगा, इसी प्रकार सकल का उच्चारण शकल करें, अश्व का उच्चारण अस्व करें तो अभीष्ट अर्थ की सिद्धि नहीं होगी। सूक्ष्म रूप से बोलियों की उत्पत्ति का इतिहास देखे तो विदित होगा कि एक से दूसरी बोली की उत्पत्ति में वर्णोच्चारण सम्बन्धी दोषों के प्रमुख हाथ हैं। इनके लिए व्याकरण का ज्ञान परमावश्यक है। इसकी पूर्ति के लिए प्रातिशाख्य एवं शिक्षा ग्रन्थों का अध्ययन आवश्यक होगा। वेद मंत्रों का शुद्ध उच्चारण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। मन्त्रों के अशुद्ध उच्चारण से अनेक प्रकार के दोष उत्पन्न होते हैं। इस विषय में पाणिनीय शिक्षा का कहना है कि–

शब्दोहीनः स्वरतो वर्णतो वा, मिथ्या प्रयुक्तो न तमर्थमाह।

स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति, यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्।।

अनेकानेक ग्रन्थों में मंत्रों के शुद्धोच्चारण के महत्ता प्रतिपादित की गयी है। अनिष्ट से बचाने के लिए प्राचीन ऋषि मुनियों एवं आचार्यो ने वर्णो के याथांतथ्योच्चारण के लिए वर्णोच्चारण सम्बन्धी अनेक प्रातिशाख्य एवं शिक्षा ग्रन्थों की रचनाएँ की और वेदांगों में उनको महत्त्वपूर्ण स्थान दिया।

पाणिनीय शिक्षा के सन्दर्भ में ऋक्प्रातिशाख्य एवं वाजसनेयि प्रातिशाख्यों के तुलनात्मक अध्ययन के लिए प्रस्तुत शोध प्रबन्ध को सात अध्यायों में विभक्त

किया गया है, जिसका संक्षिप्त विवेचन इस प्रकार किया जा सकता है– प्रस्तुत शोध प्रबन्ध की भूमिका को पॉच खण्डों में विभक्त किया गया है। प्रथम खण्ड में वेदों का महत्त्व, यजुर्वेद का महत्त्व, यजुर्वेद के सम्प्रदाय आदि के विषय में विस्तृत विवेचन किये गये हैं। द्वितीय खण्ड में प्रातिशाख्यों के प्रयोजन, प्रातिशाख्य शब्द की निरूक्ति तथा क्षेत्र, उपलब्ध प्रातिशाख्य, प्रातिशाख्यों का पूर्वापौर्वभाव, प्रातिशाख्यों का रचना काल आदि विषय निरूपित हैं। भूमिका के तृतीय खण्ड में प्रातिशाख्यों का संक्षिप्त परिचय दिया गया है, जिसमें ऋक्प्रातिशाख्य का महत्त्व, मुख्य विषय, स्वरूप, विशेषताएँ आदि विषय विवेचित हैं। इसी संदर्भ में चतुरध्यायिका, अथर्ववेद प्रातिशाख्य, ऋक्तंत्र, तैत्तिरीयप्रातिशाख्यों के परिचय उल्लिखित हैं। भूमिका के ही चतुर्थ खण्ड में वाजसनेयि प्रातिशाख्य के महत्त्व, स्वरूप, विषय वस्तु आदि विषयों पर प्रकाश डाले गये हैं। भूमिका के पंचम खण्ड में ऋक् प्रातिशाख्य एवं वाजसनेयिप्रातिशाख्यों की तुलना– जिसमें दोनों प्रातिशाख्यों में साम्य व वैषम्य निरूपित हैं।

किसी भी शास्त्र को सरलता पूर्वक समझने के लिए उसमें प्रयुक्त संज्ञाओं तथा परिभाषा सूत्रों का ज्ञान अत्यावश्यक है। अतः दोनों प्रातिशाख्यों में विहित संज्ञाओं तथा परिभाषा सूत्रों का तुलनात्मक अध्ययन प्रथम अध्याय में किया गया है। इस संदर्भ में समानाक्षर व सिम आदि संज्ञाओं, ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत, अणु, परमाणु, उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, व्यंजनों के भेद, स्वर, अक्षर, रक्त, अनुनासिक, निरनुनासिक, संयोग, सवर्ण, उपधा, पद, नति, अपृक्त, लोप, स्थितोपस्थित, आम्रेडित, असंहित, प्रगृह्य आदि संज्ञाओं का परिचय दिया गया है।

ध्वनि विज्ञान प्रातिशाख्यों का महत्त्वपूर्ण प्रतिपाद्य विषय हैं, जिसके मूल आधार वर्ण हैं। अतः द्वितीय अध्याय में दोनों प्रातिशाख्यों में विहित वर्णसमाम्नाय का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। इस सम्बन्ध में वर्ण समाम्नाय का

अर्थ, वर्ण समाम्नाय का कथन, दोनों प्रातिशाख्यों में स्वीकृत वर्ण राशि, वर्णो की संख्या, वर्ण राशि का विभाजन, अक्षर विभाजन, अक्षर विभाजन का प्रयोजन, अक्षर के प्रमुख तत्त्व, अक्षर के प्रकार, अक्षर विभाजन के नियम आदि विषय विवेचित हैं।

मंत्रों के शुद्ध उच्चारण के लिए उच्चारण विषयक नियमों का ज्ञान आवश्यक है। अतः तृतीय अध्याय में दोनों प्रातिशाख्यों में विहित वर्णो के उच्चारण विषयक नियमों का तुलनात्मक अध्ययन पाणिनीय शिक्षा के परिप्रेक्षय में किया गया है। इस संदर्भ में शुद्ध वर्णोच्चारण की महत्ता व अशुद्ध उच्चारण से उत्पन्न हानि, उच्चारण अवयवों का सामान्य परिचय, वर्णोंच्चारण में वायु की उपादेयता, वर्णोच्चारण में स्थान व करण, वर्णो के उच्चारण में काल का महत्त्व, संध्यक्षरों के स्वरूप, अनुनासिक का स्वरूप, संयोग विषयक उच्चारण वैशिष्ट्य, स्वरभक्ति, यम्, द्वित्व आदि विषयों पर चर्चायें की गयी हैं।

प्रत्येक प्रातिशाख्य पदपाठ को प्रकृति मानकर सन्धि नियमों के आधार पर संहिता पाठ बनाने का विधान करते हैं। अतः संहिता पाठ के निर्माण हेतु सन्धि नियमों का ज्ञान आवश्यक है। दोनों प्रातिशाख्यों में किये गये सन्धि विषयक विधानों का तुलनात्मक अध्ययन पाणिनीय शिक्षा के सन्दर्भ में– विषय का विवेचन चतुर्थ अध्याय में किया गया है। इसमें सन्धि के स्वरूप, संहिता के भेद, दोनों प्रातिशाख्यों में विहित परिभाषा सूत्र, स्वर व्यंजनादि, सन्धियों के विधान विस्तृत रूपेण वर्णित हैं।

सभी वर्णों का उच्चारण किसी न किसी स्वर से होता है, किन्तु व्यंजन वर्णों का अपना कोई स्वर नहीं होता। वे अपने समीपवर्ती अंगीस्वर के समान स्वर से उच्चारित होते हैं। उनके अंगीय स्वर वर्ण का ज्ञान हमें अक्षर विभाजन द्वारा होता है। पंचम अध्याय में दोनों प्रातिशाख्यों के अक्षर विभाजन विषयक विधानों की तुलना पाणिनीय शिक्षा के परिप्रेक्ष्य में की गयी है। इस सन्दर्भ में स्वरों की महत्ता,

दोनों प्रातिशाख्यों में स्वर विषयक विधान, स्वर का स्वरूप, उदात्त, अनुदात्त, स्वरित व प्रचय के विषय में नियम, अभिनिहित, क्षैप्र, प्रश्लिष्ट आदि स्वर विषयक सन्धियों का उल्लेख संहिता पाठ व पदपाठ आदि के क्रम में किये गये हैं।

षष्ठ अध्याय पदपाठ प्रकरण सम्बन्धी है। इसमें पदपाठ के महत्त्व पदपाठ के प्रयोजन, पद के मूल स्वर का ज्ञान, पद के प्रकार, उपसर्ग, निपात, पदों के गोत्र, ऊष्मान्तीय पद, द्वित्व, अनुनासिक, अवग्रह, स्थितोपस्थित, संक्रम आदि को ध्यान में रखकर पदपाठ के नियम पाणिनीय शिक्षा के परिप्रेक्ष्य में प्रदर्शित किये गये हैं।

सप्तम अध्याय का नाम 'क्रमपाठ प्रकरण' है। इसमें क्रमपाठ का महत्त्व, क्रमपाठ के प्रयोजन, त्रिपदक्रमवर्ग, विधान, चतुष्पदक्रमवर्ग विधान, पंचपदों का क्रमवर्ग, क्रमपाठ में स्थितोपस्थित, क्रमपाठ में परिग्रह, परिग्रहों की विविध स्थितियाँ, क्रमपाठ में संक्रम आदि विषय विवेचित हैं।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के अतिशय विस्तार के भय से इसमें सभी उदाहरणों को नहीं दिया गया है। विषय वस्तु की स्पष्टता के लिए सभी सूत्रों में कतिपय उदाहरणों को उद्धृत भी कर दिया गया है। सामान्यतया पारिभाषिक शब्दों का निर्वचन नहीं प्रस्तुत किया गया है, क्योंकि उनपर अनेक लोगों ने विचार अभिव्यक्त किये हैं, कहीं–कहीं विषय की स्पष्टता के लिए उनका निर्वचन दे दिया गया है। बड़े–बड़े सूत्रों के केवल आदि तथा अन्त भाग का ही संकेत करके उनको उद्धृत किया गया है।।

इस प्रकार सात अध्यायों में विभक्त इस शोध–प्रबन्ध को पूर्ण बनाने का अथक प्रयास किया गया है। कहीं–कहीं सम्भाव्य त्रुटियों को विद्वज्जन क्षमा करें।

शोधच्छात्रा

श्रीमती नेत्रा श्रीवास्तव

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. अथर्ववेद प्रातिशाख्य : डॉ0 सूर्यकान्त, मेहरचन्द लक्ष्मणदास, लाहौर, 1934
2. अमरकोष : पं0 शिवदत्त, निर्णयसागर प्रेस, 1905
3. उपनिषत्संग्रहः डॉ0 सत्यकाम वर्मा– वेद प्रतिष्ठान, नई दिल्ली
4. ऋग्वेद प्रातिशाख्य : प्रो0 वीरेन्द्र कुमार वर्मा, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, शोध संस्कृत ग्रन्थ माला, 1970
5. ऋग्वेद प्रातिशाख्य – एक परिशीलन – प्रो0 वीरेन्द्र कुमार वर्मा, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, शोध संस्कृत ग्रन्थमाला, 1972
6. चतुरध्यायिका : ह्विटनी– चौखम्भा संस्कृत सिरीज, वाराणसी, 1962
7. चान्द्रवर्ण सूत्राणि : युधिष्ठिरमीमांसक–रामलाल कपूर ट्रस्ट्र, बहालगढ़ सोनीपत, हरियाणा, 1983
8. तैत्तिरीय प्रातिशाख्य : वी0 वेंकटराम शर्मा, मद्रास विश्वविद्यालय, 1930
9. ध्वनिविज्ञान : गोलोकबिहारी –प्रेम बुक डिपो, आगरा 1958
10. निघण्टु तथा निरूक्त : डॉ0 लक्ष्मणस्वरूप, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, 1967
11. निरूक्तम् : पं0 गोविन्द शास्त्री एवं छोटूपति त्रिपाठी, खेमराज, श्रीकृष्णदास, बम्बई, 1982
12. परिभाषेन्दुशेखर : नागेशभट्ट, श्री वासुदेव शास्त्री, पटवर्धन राजेश्वरी पुस्तकालय दुर्गाघाट, वाराणसी, 1945
13. पाणिनीयाष्टाध्यायी : प्रज्ञादेवी प्यारेलाल कपूरट्रस्ट्र, अमृतसर, 1968
14. पाणिनीय शिक्षा – व्याख्याकार – डॉ0 श्रीनारायण मिश्र, प्रकाशक, चौखम्बा, ओरियान्टालिया, प्रथम संस्करण 1978
15. पाणिनीय शिक्षाया शिक्षान्तरैः सह समीक्षा, डॉ0 मधुकर फाटक, 1972
16. प्राचीन भारतीय वैय्याकरणों के ध्वन्यात्मक विचारों का विवेचनात्मक अध्यन – डॉ0 सिद्धेश्वर वर्मा, अनु0 डॉ0 देवीदत्त शर्मा, हरियाणा हिन्दी ग्रन्थ

अकादमी, चण्डीगढ़, 1973

17. भारद्वाज शिक्षा : बी0आर0 रामचन्द्र दीक्षित एवं पी0ए0सुन्दर आर्य, भण्डारक प्राच्यशोध संस्थान, 1935
18. भाषा – विज्ञान– भोलानाथ तिवारी – किताब महल, इलाहाबाद, 1971
19. महाभाष्य – वैद्यनाथ मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली, 1967
20. माण्डूकी शिक्षा – भगवद्दत्त, दयानन्द महाविद्यालय, संस्कृत ग्रन्थमाला, लाहौर, सन् 1921
21. लघुसिद्धान्त कौमुदी : श्री घरानन्द शास्त्री, मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली, 1977
22. वाजसनेयी प्रातिशाख्य – डॉ0 वीरेन्द्र कुमार वर्मा, ज्ञान प्रकाश, प्रतिष्ठान वाराणसी, 1975
23. वेदांग (वैदिक वाङ्मय का बृहद् इतिहास) : कुन्दनलाल शर्मा, विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान, होशियारपुर, पंजाब, 1983
24. वैदिक साहित्य और संस्कृति– आचार्य बल्देव उपाध्याय – शारदा मन्दिर, वाराणसी, 1967
25. वैदिक स्वरमीमांसा – युधिष्ठिर मीमांसक– रामलाल कपूर ट्रस्ट 2014
26. व्याकरण महाभाष्यम् – वेदव्रत स्नातक सिद्धान्त शिरोमणि, हरियाणा साहित्य संस्थान, रोहतक विश्वविद्यालय, 2019
27. व्यास शिक्षा : आचार्य श्री पट्टाभिराम शास्त्री, चौखम्भा , संस्कृत संस्थान, वाराणसी, 1976
28. सूत्रात्मक पाणिनीय शिक्षा – युधिष्ठिर मीमांसक, रामलाल कपूर ट्रस्ट्र बहालगढ़ सोनीपत हरियाणा, 1983
29. स्वर प्रक्रिया प्रकाश : डॉ0 वामदेव मिश्र, गीता संस्कृत प्रकाशन, वाराणसी 1975

30. शिक्षा संग्रह : स्व0 युगुल किशोर व्यास, बनारस संस्कृत सीरीज, 1989

31. A Grammer of the Sanskrit Language : F. Killhors, Chawkhambha Sankrit Series, Varansi 1970

32. Phonetics : K.L. Pike 1947